हिन्दू एशिया

लेखक—

श्री मदनगोपाल सिंहल

मूल्य दो रुपये

प्रकाशक :

गोपाल प्रकाशन

सदर मेरठ

प्रथम संस्करण १२००

नवम्बर, १९५६

मुद्रक :

श्री मदनगोपाल सिंहल
गोपाल प्रिंटिंग प्रेस
सदर मेरठ
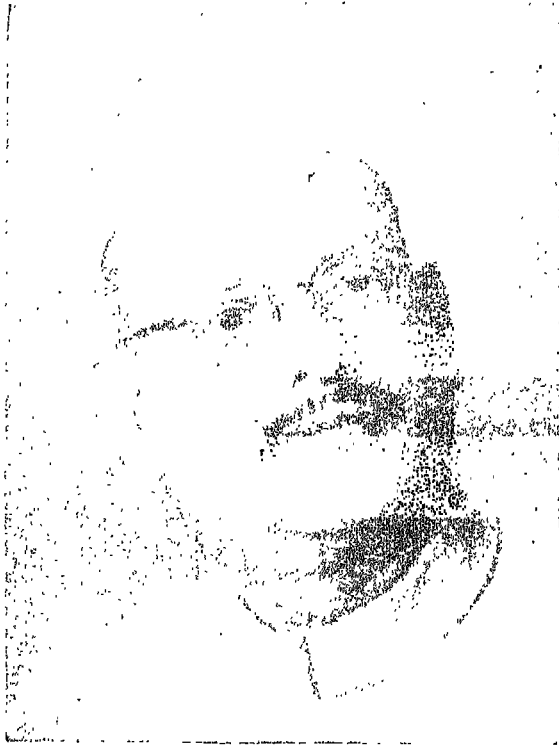
—लेखक

पृथ्वी के जिस भाग को आज हम 'एशिया' के नाम से पुकारते हैं उसका यह नाम बहुत अधिक पुराना नहीं है। हमारे अतीत के इतिहास में लिखा है कि स्वयंभू मनु के पुत्र प्रियव्रत ने समग्र पृथ्वी को सात भागों में विभक्त किया था— जम्बू द्वीप, प्लावश, पुस्कर, क्रोञ्च, शाक, शाल्मली तथा कुश। इसमें जम्बू द्वीप ही आज का 'एशिया' है।

एशिया नाम इस भू-खण्ड को यूनानी नाविकों ने दिया है। ग्रीक धातु 'असु' का अर्थ होता है 'सूर्योदय'। इन यूनानियों ने इस देश को अपने से पूर्व में— सूर्योदय होने वाली दिशा में— पाया और इस लिये उन्होंने इसे 'एशिया' कह कर पुकारना आरम्भ कर दिया। तभी से इसे विश्व के अन्य दूसरे देश भी 'एशिया' ही कहने लगे।

सम्पूर्ण एशिया अनेक दृष्टियों से अपने में एक इकाई है। इसके प्रायः सभी देशों के आचार विचारों में बहुत अंशों में

साम्यता है और इसका कारण यही है कि इस भू-खण्ड की संस्कृति का आदि स्रोत एक ही है। आप एशिया के किसी भी कोने में झांक कर देखिये, आप वहाँ की संस्कृति को वैदिक संस्कृति से मिलती जुलती ही पायेंगे। किन्तु ऐसा क्यों है इस पर जब आज के इतिहासकार विचार करने बैठते हैं तो वह विभिन्न प्रकार की कल्पनाओं में उलझ कर रह जाते हैं।

कोई कहता है कि किसी काल में भारत के आर्यों ने इन देशों को विजित कर वहाँ अपनी सभ्यता और संस्कृति का प्रसार किया था, कोई कहता है कि भारतीय व्योपारी ही इन देशों में अपना धर्म और संस्कृति अपने साथ लेकर पहुंचे थे और वे ही उन्हें वहाँ छोड़ आये थे, और कोई कहता है कि भारत में जनसंख्या बढ़ जाने पर यहाँ के निवासियों ने इन देशों में अपने उपनिवेश स्थापित किये थे और इस प्रकार वहाँ पहुंच कर बस जाने वाले भारतीयों ने ही उन देशों में अपनी सभ्यता और संस्कृति का प्रसार किया था।

किन्तु सच बात तो यह है कि अब से बहुत काल पूर्व जब महाराज पृथु ने इस सात भागों में विभक्त पृथ्वी पर नगर, ग्राम और बस्तियाँ स्थापित की थीं तो, हमारा प्राचीन इतिहास बताता है कि, जहाँ जहाँ भी ये बस्तियाँ बनती गईं वहीं वहीं उनमें मनु और सतरूपा की संतानें बसती चली गईं और उनके साथ ही उनकी सभ्यता और संस्कृति भी उन स्थानों पर पहुंचती गई। इस प्रकार इस सम्पूर्ण भू-मण्डल के सभी देशों में एक ही परिवार बस गया। उस परिवार की एक ही संस्कृति थी और उसका एक ही धर्म था। उसे चाहे मानव-धर्म कहो और चाहे वैदिक धर्म।

किन्तु जैसे जैसे समय बीतता गया विभिन्न देशों की जलवायु की भिन्नता के कारण वहाँ जाकर बसने वाले मानवों के वर्णों तथा आकृतियों में भी भिन्नता आती गई। जलवायु का ही प्रभाव आचार-विचार पर भी पड़ा। आवागमन की असुविधाओं के कारण उनसे भारत का सम्बन्ध भी धीरे-धीरे कम होता गया और परिणाम यह हुआ कि उन देशों में शुद्ध आचार-विचारों का पोषण बन्द होगया। कालान्तर में वहाँ के निवासियों के रूप-रंग, रहन-सहन तथा बोलचाल में इतना महान परिवर्तन होगया कि वहाँ के प्रवासी भारत में ही विदेशी समझे जाने लगे।

मनु के कथनानुसार क्रिया लोप हो जाने से ही पौण्ड्र, औण्ड्र, द्रविड़, कम्बोज, यवन, शक, वल्लभ, चीन, किरात, दरद, खस आदि जातियाँ बन गईं और अनेकों जातियाँ आचार भ्रष्ट होने के कारण ही म्लेच्छ कही जाने लगीं। किन्तु इतिहास बतलाता है कि फिर भी उन देशों से हमारा कौटुम्बिक और सांस्कृतिक सम्बंध बहुत काल तक बना रहा।

सब जानते हैं कि श्रीराम की विमाता कैकयी, कैकय (कावेशस) देश की राजपुत्री थीं और दुर्योधन की माता गांधारी गांधार (कन्दहार) की। अर्जुन की पत्नि बिलोपी पाताल (अमरीका) के कुरु नरेश की कन्या थी।

सुग्रीव ने भगवती सीता की खोज में एशिया के प्रायः सभी देशों में अपने दूतों को भेजा था, ऐसा वाल्मीकि रामायण से हमें ज्ञात होता है तथा कौरव पाण्डवों के महायुद्ध में एशिया के प्रायः सभी राष्ट्र सम्मिलित हुवे थे ऐसा उल्लेख भी महाभारत में आया है।

महाभारत के शान्ति पर्व में महर्षि व्यास और शुकदेव की पाताल (अमरीका) यात्रा का सविस्तार वर्णन है। शुक तो योरोप भी गए थे। योरोप को उन दिनों हरिदेश कहा जाता था। योरोप से वह ईरान तथा तुर्किस्तान होते हुवे वापिस लौटे थे। इस यात्रा में उन्हें तीन वर्ष लगे थे।

पाण्डव लोग भी एक बार ब्रह्मदेश, स्याम, चीन, तिब्बत, तातार, ईरान गये और हिरात, काबुल, कन्दहार तथा बिलोचिस्तान होकर लौटे तथा दूसरी यात्रा में लङ्का से प्रस्थान करके अरब, मिस्र, जञ्जीबार और अफगानिस्तान आदि दूसरे भागों में गये थे, ऐसा भी उल्लेख महाभारत में आया है। छोटे पाण्डव सहदेव द्वारा सागर के मध्यवर्ती द्वीपों के म्लेच्छ जातीय नरेशों से युद्ध का उल्लेख भी महाभारत में मिलता है।

इन सभी उल्लेखों से यह तो स्पष्ट है कि कम से कम महाभारत के काल तक हमारा संबन्ध विश्व के विभिन्न देशों से और विशेषतया सम्पूर्ण जम्बूद्वीप (एशिया) से बना रहा है, किन्तु उसके पश्चात् क्या हुवा इसके विषय में अभी कुछ भी नहीं कहा जा सकता। कारण कि उसका इतिहास तो काल के कराल गाल में समा चुका है। निरन्तर एक हजार वर्षों तक मुसलमानों के हम्मामों की भट्टियों में ईंधन बन कर वह सदा के लिए ही दृष्टि से ओझल हो चुका है, फिर उसे जाना ही कैसे जाये।

कहा जाता है कि अलकज़ेण्ड्रिया के ग्रन्थालय के नष्ट हो जाने से मानव जाति की प्रगति एक हजार वर्ष पीछे चली गई है, किन्तु हमारे देश के आक्रान्ता मुसलमानों के द्वारा हमारे जिस साहित्य

का विनाश किया गया है उससे मानव जाति की कितनी बड़ी हानि हुई है इसकी तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। उसने तो अतीत के साथ वर्तमान का सम्बन्ध ही विच्छेद कर दिया है।

किन्तु इधर गत एक शताब्दी से विश्व के विभिन्न भागों में जो अन्वेषण कार्य हुवे हैं, खुदाइयाँ हुई हैं, उनसे हिन्दू संस्कृति के चिह्न ही विशेष रूप से प्राप्त हुवे हैं और यही देखकर पाश्चात्य विद्वानों का ध्यान पुनः प्राचीन काल में विश्व के साथ भारतीयों का जो सम्बन्ध था उसकी ओर आकृष्ट हुवा है। उन्होंने अपने अपने देशों में इस सम्बन्ध में विशेष खोज करने के लिये संस्थायें स्थापित की हैं, अनुसंधान कार्य चलाये हैं और पत्र-पत्रिकायें निकाली हैं। भारत में भी कवीन्द्र रवीन्द्र के नेतृत्व में अनेक विद्वानों का ध्यान इस ओर गया और उन्होंने भी यहाँ 'ग्रेटर इण्डिया सोसाइटी' (बृहत्तर भारत समिति) की नींव डाली। इस संस्था के द्वारा भी इस दिशा में अनेक महत्वपूर्ण प्रयत्न हुवे हैं और हो रहे हैं। इन सब का परिणाम यह निकला है कि एशिया के अन्य और सभी देशों के साथ हमारा पुराना सम्बन्ध फिर नया होने लगा है और बृहत्तर भारत की झिलमिली-सी झांकी फिर हमारे नेत्रों के सामने घूमने लगी है।

इन खोजों के प्रकाश में ही हम देख रहे हैं कि हमारे परिवार के इन सदस्यों का हमारे प्रति स्नेह अभी तक भी कम नहीं हुवा है। गत एक हजार वर्षों की अपनी परतंत्रता के युग में यद्यपि हम अपने इन भाइयों की कोई भी सुधबुध नहीं ले सके हैं और लेते भी कहाँ से, हमें इस काल में अपनी ही पगड़ी बचानी कठिन पड़

रही थी, किन्तु फिर भी वे हमें नहीं भूले हैं। यद्यपि इन देशों ने भी इस युग में हमारी जैसी ही अनेक आपत्तियों का सामना किया है, उन्हें तलवार दिखाकर कभी मुसलमान ने अपने कुरान के आगे झुकाया है तो कभी ईसाई ने अपने बाइबिल के आगे, किन्तु फिर भी हम आज देख रहे हैं कि वे अभी तक भी अपनी पुरातन सनातन संस्कृति को अपनी छाती से ही चिपटाये बैठे हैं।

राजनैतिक सम्बन्ध विच्छेद हो जाने पर भी वे अपने पूर्वजों के आदि देश इस भारत की स्मृति को सदा अपने सामने बनाये रखने का पूरा-पूरा प्रयत्न करते रहे हैं और यही कारण है कि आज भी जब हम उन देशों के मानचित्रों पर दृष्टि डालते हैं तो हम देखते हैं उनमें से कितने ही देशों में अयोध्या है, मथुरा है, कलिङ्ग है, गङ्गा है, यमुना है, कावेरी है, गोदावरी है, गोमती है। उनमें से न जाने कितने देश अपने को श्रीराम का क्रीड़ास्थल मानते हैं और जो ऐसा नहीं भी मानते वे भी श्रीराम और कृष्ण के प्रति वैसा ही श्रद्धा का भाव तो रखते ही हैं जैसा कि हम। वे आज भी राम और कृष्ण की लीलायें करते हैं और साथ ही रामायण तथा महाभारत का पठन-पाठन भी उनके यहाँ प्रचलित है।

इन्हीं खोजों के प्रकाश में हमने देखा है कि अभी भी एशिया के विभिन्न देशों में विष्णु, शिव और गणेश की उपासना की जाती है; संस्कृत जिनकी मूल है ऐसी ही भाषायें बोली जाती हैं और मनु को नीति के प्रथम निर्माता के रूप में स्वीकार किया जाता है।

जो देश आज मुसलमान हो गये हैं उनके निवासी भी मस्जिदों में जाने से पूर्व मन्दिरों की देव प्रतिमाओं पर फूल चढ़ाते हैं और उनकी परिक्रमा करते हैं। वहाँ के खण्डहरों में, मन्दिरों में और मूर्तियों में हमें आज भी सुप्त हिन्दुत्व के दर्शन होते हैं और जिन जिन देशों में अभी भी हिन्दुत्व जीवित अवस्था में है, अर्थात् जहाँ के निवासियों ने विधर्मियों के शत शत आघात सहते हुवे भी अपने पुरुषाओं के इस धर्म को नहीं छोड़ा है, वहाँ तो वह उस पवित्रता के साथ अपना अस्तित्व बनाये हुवे है जो सम्भवतः आज भारत में भी कहीं देखने को नहीं मिलती।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सुदूर अतीत में मनु की संतान ने अपनी जिस वैदिक अथवा मानव सभ्यता और संस्कृति के बीज विश्व में रोपे थे वह सदियों के तूफान झेल कर भी आज वहाँ फूलती और फलती रही है।

यद्यपि हमारी परतंत्रता के काल में हमारे विदेशी शासकों और उनके समर्थकों ने भारत के गौरवमय अतीत को मलिन बनाने का भरसक दुष्प्रयत्न किया था और उसे उपेक्षा के धूमिल परदे से ढक देने की भरसक चेष्टा भी की थी, किन्तु अग्नि के स्फुलिङ्गों के समान आज वह फिर हमारे सामने उभर रहा है। आज हमारी सभ्यता और संस्कृति का उज्ज्वल अतीत हमारे ही नहीं विश्व के सामने आ रहा है और यदि ये खुदाइयाँ, ये अनुसंधान, इसी प्रकार ठीक ठीक दिशा में चलते रहे तो वह समय दूर नहीं जब यह मानना पड़ेगा कि प्राचीन काल में केवल एशिया में ही नहीं अपितु सारे

विश्व में भारतीय सभ्यता और संस्कृति का ही साम्राज्य था जैसा कि हमारे प्राचीन इतिहास ग्रन्थों-पुराणों का कथन भी है।

आओ, इन पृष्ठों में हम एशिया की पुण्य भूमि पर व्यापक अपनी पावन पुरातन संस्कृति के दर्शन करें।

सुरेन्द्रपाल सिंह

हिन्दू एशिया

बर्मा

बर्मा का प्राचीन नाम 'ब्रह्मदेश' है ।

बर्मा १६३७ ई० तक भारत का ही एक अङ्ग रहा है और अब पृथक् हो जाने पर भी उसका निकटतम पड़ोसी है। ऐसी दशा में इस पर हिन्दू सभ्यता और संस्कृति का प्रभाव विद्यमान रहना स्वाभाविक ही है ।

एशियाई महासम्मेलन में बर्मा के प्रतिनिधि मण्डल के अध्यक्ष जस्टिस श्री क्याव मिंटे ने कहा था—'मैं विदेश में नहीं किंतु अपने ही घर आया हूँ। बर्मा का भारत की संस्कृति से संवन्ध है। हम बर्मी भारत से विचार में समीप हैं, भूगोल में समीप हैं और समाज तथा संस्कृति में भी समीप हैं।' और बर्मी नेता का यह कथन अक्षरशः सत्य ही था ।

यद्यपि बर्मा आज बौद्ध धर्म प्रधान देश है किन्तु इसके पुरातन इतिहास के आधार पर यह सुनिश्चित ही है कि इस में किसी समय पूर्णतः हिन्दू धर्म और संस्कृति का ही साम्राज्य था। कहा जाता है कि शाक्य वंश के किसी राजकुमार आवी ने यहाँ अपना

स्थाई निवास स्थापित कर इस देश को 'ब्रह्मदेश' का नाम प्रदान किया था।

बर्मा का प्रमुख तथा अत्यन्त प्राचीन नगर प्रोम कभी वैष्णव धर्म का एक प्रमुख गढ़ रहा है। उस समय इस नगर का नाम 'विष्णोमियो' अर्थात् विष्णुपुरी था। उस समय इसे 'श्रीक्षेत्र' भी कहा जाता था। बौद्ध कथाओं के अनुसार इस नगर का निर्माण स्वयं श्री विष्णु ने ही विश्वकर्मा, इंद्र, नाग, गरुड़, चण्डी, परमेश्वर तथा गणपति की सहायता से किया था।

छटी शताब्दि से आठवीं शताब्दि तक यहाँ विक्रम वंशी हिन्दू नरेशों का शासन रहा है। खुदाइयों में ऐसे अनेक अस्थि-कलश प्राप्त हुए हैं जिन पर इन नरेशों के संक्षिप्त परिचय अङ्कित हैं।

उन्हीं दिनों ५वीं शताब्दि से १०वीं शताब्दि तक बर्मा के दूसरे भाग में एक और भी राजवंश के शासन का पता लगता है जो शैव-धर्मावलम्बी था। खुदाइयों में इन नरेशों के अनेक सिक्के प्राप्त हुए हैं, जिन पर एक ओर भगवान् शंकर का चित्र अङ्कित है और दूसरी ओर नन्दी का। कर्नल फेरे (Col. Phayre) ने अपनी पुस्तक 'अराकान, पीगू और बर्मा के सिक्के' में लिखा है कि ये नरेश चन्द्रवंशी थे और इनके नाम श्री बालचन्द्र, प्रीतिचन्द्र, वीरचन्द्र आदि थे। प्राप्त सिक्कों पर ये सभी नाम देवनागरी लिपि में ही अङ्कित हैं।

बर्मा के अनेक भागों में शिव-लिङ्ग भी प्राप्त हुए हैं। इससे स्पष्ट ही है कि कभी यहाँ विष्णु और शिव दोनों देवों की ही उपासना समान रूप से प्रचलित थी।

सूर्य की भी एक प्राचीन मूर्ति बर्मा में प्राप्त हुई है, इस मूर्ति में भगवान् भास्कर अपनी पत्नियों ऊषा तथा प्रतिऊषा के साथ सप्त अश्वों के रथ पर आरूढ़ हैं तथा वरुण (अरुण) रथ का संचालन कर रहे हैं। सूर्य के गले में आभूषण हैं, हाथों में विकसित कमल हैं तथा सर पर दिव्य मुकुट है।

नौवीं शताब्दि में निर्मित 'रामावती' नगर भी अभी बर्मा में स्थित है। इस नगर की स्थापना भगवान् श्रीराम के नाम पर ही हुई थी। यहाँ के नरेश अपने को श्रीराम का ही वंशज कहते थे और उनके हृदय में राम के प्रति अगाध श्रद्धा भी थी।

उन दिनों यहाँ वैष्णव और शैव धर्मों के साथ ही साथ बौद्ध धर्म भी व्यापक रूप से प्रचारित था। पीगू, रंगून और थाटन के पगोडे कभी हिन्दू मन्दिर ही थे जो बौद्धों द्वारा ही अपने वर्तमान स्वरूपों में परिवर्तित कर दिये गये थे।

१३वीं शताब्दी में यहाँ मंगोलों ने आक्रमण किया। इससे बर्मा की शक्ति का पतन हो गया और भारत के समान ही यहाँ भी इस्लाम का उदय हुआ। १४वीं शताब्दी में यहाँ नाममात्र को ही हिन्दू शेष रह गये, किन्तु फिर भी बीज रूप में उन हिन्दुओं ने अपने धर्म की रक्षा की और उसी का यह परिणाम है कि आज भी बर्मा में हिन्दुत्व के अनेक चिन्ह दृष्टिगोचर होते हैं। जो हिन्दू मन्दिर और बौद्ध विहार मुसलमानों द्वारा नाश होने से बच गये वे अभी भी हमें पुरातन बर्मा में हिन्दुओं के प्रभाव का प्रमाण देते हैं।

अनेक बिहारों में राम की विभिन्न लीलाओं के चित्र अभी तक भी मिलते हैं। यत्र तत्र होने वाली खुदाइयों में भी प्रायः विष्णु,

शिव, पार्वती तथा हनुमान की सुन्दर सुन्दर प्रतिमायें निकलती रहती हैं। हैलांग में तो अभी तक भी भगवान विष्णु का एक विशाल मन्दिर विद्यमान है। यह मन्दिर लगभग एक हजार वर्ष पूर्व निर्मित हुआ था। यहाँ की प्रधान मूर्ति गरुड़वाहन विष्णु बर्लिन की म्यूजियम में ले जाई जा चुकी है किन्तु फिर भी मन्दिर की भित्तियों पर विष्णु के दशों अवतारों की अत्यन्त भावपूर्ण मूर्तियाँ अभी भी विद्यमान हैं। भूदेवी के साथ वाराह, हरणकश्यपु का वध करते हुए नृसिंह, त्रिभङ्ग मुद्रा में खड़े श्रीराम, हाथों में परशु, खड्ग तथा धनुष बाण लिये हुए परशुराम के अतिरिक्त बुद्ध, मत्स्य, कूर्म, वामन आदि सभी विष्णु अवतारों की मूर्तियाँ बड़ी ही सुन्दर बन पड़ी हैं। इस मन्दिर में भी भगवान सूर्य की एक मूर्ति है।

गणेश की उपासना तो 'महापिएन' के नाम से अभी भी बर्मा में होती है। गणेश का स्वरूप वहाँ भी पूर्णतया भारतीय ही है।

बर्मा की भाषा पर पाली के साथ ही संस्कृत का व्यापक प्रभाव है तथा वहाँ के साहित्य, व्याकरण, आयुर्वेद, ज्योतिष आदि सभी क्षेत्रों में हिन्दू संस्कृति के चिन्ह स्पष्ट हैं।

बर्मी लोगों के पर्व भी हिन्दुओं से मिलते जुलते हुए ही होते हैं। यहाँ का जलपर्व 'तिंजान' हमारी होली के जैसा है और प्रकाश पर्व 'तडींजू' दीपावली के जैसा।

तिंजान पर्व वहाँ भी नववर्ष के आगमन पर ही तीन चार दिन तक बड़े उत्साह के साथ मनाया जाता है। इन दिनों बर्मा निवासी अपने सभी कारबार बन्द रखते हैं। बच्चे पिचकारियों द्वारा राह

चलतों पर तथा युवक युवतियाँ बाल्टियों से एक दूसरे पर पानी डालते हैं। जिस पर पानी डाला जाता है वह भी उतना ही प्रसन्न होता है जितना पानी डालने वाला। खेलने वाली मण्डलियाँ प्रायः सजी हुई मोटरों में बैठ कर नगर की सड़कों पर चक्कर लगाती हैं। सड़क के दोनों ओर नर-नारी और बच्चे कतार बांधे खड़े रहते हैं। जैसे ही मोटर बीच से गुजरती है ये सभी लोग उस पर पानी फेंकते हैं और हंसते गाते तथा नाचते कूदते हैं।

इसी प्रकार प्रकाश पर्व तडींजू पर भी बर्मा का घर घर दीपकों के प्रकाश से जगमग हो उठता है। ऐसा प्रतीत होता है मानों इन्द्र-पुरी ही पृथ्वी पर उतर आई हो। जहाँ तक भी दृष्टि जाती है दीपों की कतार ही कतार नजर आती हैं। घरों के द्वारों पर रङ्ग बिरङ्गी बन्दनवारें बांधी जाती हैं, भांति भांति के कन्दील लगाये जाते हैं तथा उनमें प्रकाश किया जाता है। आतिशबाजी छोड़ी जाती है तथा बच्चे पटाखे और फुलझड़ियाँ जलाते हैं। लोग रंग बिरंगे तड़क भड़क के वस्त्र पहन कर घरों से निकलते हैं और इधर उधर घूमकर उत्सव का आनन्द लेते हैं।

भारत के समान ही बर्मा में भी पर्व राष्ट्रीय जीवन के महत्व पूर्ण अङ्ग माने जाते हैं।

स्याम

स्याम अथवा थाइलैण्ड का प्राचीन नाम 'द्वारामती' है। १३५० ई० तक यह देश कम्बुज (कम्बोडिया) का ही एक प्रांत रहा है।

ईसा की पाँचवीं शताब्दि तक यहाँ पूर्णतः वैदिक हिंदू धर्म और संस्कृति का प्रसार था। उसके पश्चात् यहाँ बौद्ध धर्म का प्रवेश हुआ किन्तु फिर भी यहाँ की सभ्यता और संस्कृति पर अभी तक वैदिक धर्म की अमिट छाप स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है।

स्याम के वर्तमान शासक यद्यपि बौद्ध धर्मावलम्बी हैं किन्तु किसी भी नये राजा के अभिषेक के समय वहाँ अभी तक भी ब्राह्मण पुरोहित ही राजा को तिलक करते हैं तथा पवित्र नदियों के जल से उन्हें स्नान कराया जाता है। राजा भारतीय प्रथा के अनुसार ही छत्र, चँवर, खड्ग, दण्ड तथा खड़ाऊँओं का प्रयोग करते हैं। राज्याभिषेक के समय ब्राह्मणों द्वारा यज्ञ भी किया जाता है।

स्याम का राजवंश अपने को भगवान् श्री राम का वंशज मानता है और इसी कारण वहाँ के प्रायः सभी नरेश अपने आपको 'रामा-

राम रावण युद्ध
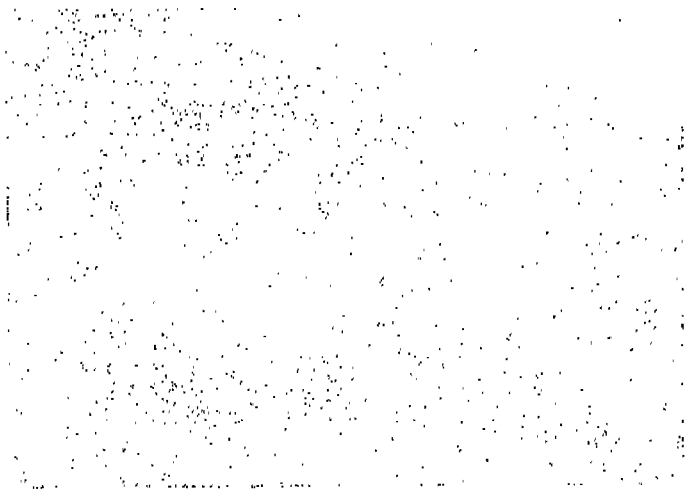
[श्याम का एक भित्ति चित्र

धिपति' कहते हैं तथा अपने नाम के साथ 'राम' शब्द सम्मिलित करते हैं— महावज्र बुद्ध राम, महामतंक राम, सुखदेव राम आदि।

यहाँ के प्रथम ऐतिहासिक नरेश श्री इन्द्रादित्य थे जो १२१४ ई० में सिंहासन पर बैठे थे। उनकी राजधानी 'सुखोदय' थी। उन्हीं के पुत्र राम राजा थे जिन्होंने स्यामी लिपि का आविष्कार किया था।

स्याम के छठे नरेश राम ने १३५० ई० में एक प्रान्त को विष्णु-लोक का नाम दिया था और उसमें अयोध्या नाम से एक नगर का निर्माण कर उसे ही अपनी राजधानी बनाया था। स्याम के एक दूसरे नरेश राम खमेंग (१२७५-१३१७) भी भगवान् श्री राम के परम उपासक हो गये हैं।

वहाँ के राजमन्दिर की दीवारों पर भी रामायण की सुन्दर झांकियाँ खुदी हुई हैं। सारे स्याम में रामकथा का व्यापक प्रभाव है। वहाँ साहित्य, शिल्प, रङ्गमंच सभी कहीं राम दृष्टिगोचर होते हैं। स्याम के सांस्कृतिक जीवन का प्रत्येक पक्ष रामगाथा से प्रभावित है। स्याम के गाँव गाँव और मोहल्ले मोहल्ले में आज भी राम की लीलायें होती हैं और कभी कभी तो ये लीलायें बराबर दो-दो तीन-तीन सप्ताह तक चलती रहती हैं। नवीन मन्दिरों के निर्माण के समय भी उनकी दीवारों पर प्रायः राम कथा से संबंधित चित्र ही अङ्कित किये जाते हैं।

राम की कथा के प्रति वहाँ के निवासियों का कितना प्रेम है वह एक इसी बात से स्पष्ट है कि 'रामराज्य' चित्रपट का थाई-संस्करण स्याम की राजधानी बैंकाक नगर में ही लगातार छः मास तक सफलता पूर्वक चलता रहा है।

राम कथा के ग्रन्थ का नाम यहाँ 'राम कियेना' है। इस पुस्तक में भगवान् श्री राम के सम्पूर्ण जीवन चरित्र का विषद वर्णन है। स्याम निवासी भगवान राम को अपने ही देश में हुवा मानते हैं।

रामायण के अतिरिक्त स्याम में सावित्री-सत्यवान, शकुन्तला तथा अनुरुद्ध आदि के नाटक भी बड़े लोकप्रिय हैं। आबाल वृद्ध, नर-नारी उन्हें बड़े चाव से देखते हैं। अनेक भारतीय नीति कथायें तथा पंचतंत्र की कहानियाँ भी वहाँ की अपनी स्यामी भाषा में बड़े व्यापक रूप से पढ़ी जाती हैं।

स्याम के नृत्यों में भी भारतीय नृत्यों के समान ही मुद्राओं को विशेष महत्व दिया जाता है।

स्याम के शिल्प पर भी भारतीय प्रभाव स्पष्ट दीख पड़ता है। वहाँ के भग्नावशेषों से जो पुरातन सामग्री उपलब्ध हो रही है, उस सभी पर भारतीय संस्कृति की अमिट छाप दीख पड़ती है।

उत्तरी स्याम में भगवान् श्री राम के पुत्र लव के नाम पर प्रतिष्ठित लवपुरी एक प्रसिद्ध नगर है। लवपुरी के एक मंदिर में विष्णु, लक्ष्मी आदि अनेक देवी देवताओं की मूर्तियाँ हैं। बैंकाक के 'अरुण मंदिर' तथा 'प्रभात मन्दिर' में तीन सूंड वाले हाथी पर आसीन इन्द्र की भी मूर्तियाँ हैं तथा वहाँ की म्यूजियम में भी शिव, पार्वती तथा रामायण के पात्रों की अनेक प्रतिमायें हैं। ये सभी प्रतिमायें पत्थर, कांसा, मिट्टी अथवा काष्ट की बनी हुई हैं। शिव मूर्ति में शरीर पर लिपटे हुए नाग, मस्तक पर तृतीय नेत्र, हाथों में डमरू तथा त्रिशूल, कलाइयों पर लिपटी अक्षमाला और गले में रुद्राक्ष बड़े ही सुहावने प्रतीत होते हैं। म्यूजियम को स्यामी भाषा में 'विविध-

वस्तु-भण्डार स्थान' कहते हैं। बैंकाक की म्यूजियम देखने मात्र से दर्शक के चित्त पर भारत का पुरातन चित्र अङ्कित हो उठता है।

इसके अतिरिक्त सुखोदय, स्वर्गलोक तथा थाम्मरट आदि नगरों में भी अनेक हिन्दू मन्दिर पाये जाते हैं। इन सभी मन्दिरों के सुनहरी कलश बरबस भारतीय मन्दिरों का स्मरण दिला देते हैं। इनमें नटराज, पार्वती, गणेश, स्कन्ध तथा विष्णु की मूर्तियाँ हैं।

स्याम में किसी समय अनगिन हिन्दू मन्दिरों का अस्तित्व था किंतु देश-वासियों के बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेने के पश्चात् अधिकांश हिन्दू मन्दिर बौद्ध बिहारों में परिवर्तित कर दिये गये। फिर भी जो हिन्दू मन्दिर अभी स्याम में शेष हैं उनमें हिन्दू देवी देवताओं की पूजा होती है और समय समय पर विशेष उत्सव भी होते रहते हैं।

स्याम की राजधानी बैंकाक में अभी भी अनेक ब्राह्मण निवास करते हैं। वे अभी तक कट्टर हिन्दू ही हैं तथा अपने पुरातन रीति-रिवाजों को ही व्यवहार में लाते हैं। स्याम के राज दरबार में उन्हें पर्याप्त सम्मान प्राप्त है। राज परिवार में होने वाले प्रत्येक कार्य में वे लोग ससम्मान आगे ही रक्खे जाते हैं।

इस देश में यद्यपि अब पाश्चात्य सभ्यता का प्रसार बड़ी तीव्र गति से हो रहा है किन्तु फिर भी भारतीय संस्कृति की धरोहर वहाँ आज भी भारत से अधिक सुरक्षित है। हिन्दू-आचार परम्परा के रूप में वहाँ आज भी प्रचलित है। शिष्टाचार को वहाँ अत्यन्त महत्व प्रदान किया जाता है।

सभी स्त्री पुरुष एक दूसरे से मिलने पर दोनों हाथ जोड़ कर 'स्वस्ति' कहते हैं। 'स्वस्ति' के अतिरिक्त सारे स्याम में अभिवादन

के लिए कोई भी दूसरा शब्द प्रचलित नहीं है । छोटे बड़ों के सामने नतजानु होकर या थोड़ा सा झुक कर इसका उच्चारण करते हैं ।

भिक्षु होने की भी प्रथा है । भिक्षु लोग नित्य प्रति प्रातःकाल भिक्षा के लिये निकलते हैं । भिक्षा दोनों हाथों से दी जाती है । भिक्षु-जीवन में मनुष्य जीवन को सार्थक बनाने में उपयोगी सद्ग्रन्थों का अध्ययन तथा पारायण किया जाता है ।

स्याम में अनेक संस्कार भी भारतीय शैली से ही होते हैं ।

जन्म होने पर बच्चे के बाजू पर पवित्र सूत्र बाँधा जाता है । मुंडन संस्कार भी बड़े समारोह से होता है । यह संस्कार तो वहाँ इस्लाम धर्म के अनुयायी भी करते हैं । राजपुत्रों के मुंडन के समय तो अनेक प्रथायें होती हैं । ब्राह्मण राजपुत्र पर पवित्र जल छिड़कते हैं तथा उनके बालों के गुच्छों को तीन भागों में विभक्त करते हैं । नरेश स्वयं अपने हाथों से इन गुच्छों को काटते हैं । इसके पश्चात् एक ब्राह्मण मुण्डन करता है तथा अन्य दो ब्राह्मण शंख ध्वनि करते हैं । तब राजपुत्र को एक पर्वत पर ले जाया जाता है जो कैलाश का प्रतीक होता है, जहाँ लोक-कथाओं के अनुसार भगवान् शिव ने गणेश का मुण्डन किया था ।

विवाह को स्यामी भाषा में 'स्वयंवर' कहते हैं । विवाह प्रणाली भी अधिकांश रूप में भारत के जैसी ही है । विवाह के अवसर पर वयोवृद्ध मन्त्रोच्चारण करते हैं तथा वर-वधू को आशीर्वाद देते हैं । जलाभिषेक आदि कृत्य भी किये जाते हैं ।

मृत्यु को स्यामी भाषा में 'दिवंगत' कहते हैं । शव का पूजन करने के पश्चात् उसका दाह संस्कार होता है । दाह के पश्चात्

सम्मिलित भोजन की प्रणाली भी प्रचलित है।

स्याम के निवासी स्त्री जाति का बड़ा सम्मान करते हैं। नारि-अपहरण की घटनायें तो वहाँ कभी सुनने में ही नहीं आतीं।

पुजारियों को स्याम में 'वामदेव' कहा जाता है तथा उनका विशेष सम्मान होता है। पुजारी का पद वहाँ के निवासी अत्यन्त प्रतिष्ठा के योग्य समझते हैं।

आश्विन मास में वहाँ पितृ पक्ष भी मनाया जाता है। अनेक स्यामी श्राद्ध भी करते हैं।

स्याम में भारत के समान ही अनेक उत्सव भी मनाये जाते हैं। दीपावली के दिन घरों में और विशेषतया मन्दिरों में प्रकाश किया जाता है। होली की भाँति का भी एक उत्सव वहाँ नये वर्ष के आरम्भ में होता है।

स्याम की भाषा भी भारतीय प्रभाव से नहीं बच पाई है। वहाँ की भाषा के अक्षरों का उद्गम स्थल भारत ही है और इसी कारण उसमें संस्कृत के शब्दों का बाहुल्य है। अनेक संस्कृत शब्द साधारण सी उलट फेर के साथ वहाँ दैनिक व्यवहार में प्रयोग होते हैं। उदाहरण के लिये राष्ट्र, राष्ट्रपति, युवराज, राष्ट्रमन्त्री, आचार्य, गुरु, पुरोहित, शास्त्राचार्य, कोषाधिपति, शान्तिपाल, देशपाल, नगरपाल, सेनापति, नायक, अधिपति, धनागार, खड्गगृह, छत्रगृह आदि। स्यामी भाषा में हवाई जहाज को 'आकाश यान', टेलीफोन को 'दूर शब्द', रथ संचालकों के अध्यक्ष को 'रथ चारण अत्यक्ष', व्याख्यान को 'सुन्दर वचन' तथा कथा को 'कथा' ही कहा जाता है।

स्याम में स्त्री पुरुषों के नाम भी प्रायः संस्कृत से ही रक्खे जाते हैं। यथा— प्रबल, संग्राम, विपुल वेश, भरत, कुमुद, रेणु, प्रभा, आभा, वीणा, लक्ष्मी, मालिनी आदि। यहां के वर्तमान नरेश का नाम भी भूमिबल अतुल तेज है, उनसे पूर्व नरेश आनन्द महीबल थे और उनसे पूर्व प्रजाधिपक।

नगरों और प्रान्तों के नाम भी इसी प्रकार के हैं— राज्यपुरी, प्राचीनपुरी, लवपुरी, सुरेन्द्रपुरी, अयोध्या, महाराष्ट्र, स्वराष्ट्र, धर्मराज्य आदि।

स्याम के कानून पर भी मनुस्मृति की पूरी छाप है। मनु को स्यामी लोग 'रथ्य मनु' कहते हैं। उत्तराधिकार का नियम भी हिन्दुओं के अनुसार ही है।

स्याम की भाषा पर ही संस्कृत का प्रभाव हो ऐसी बात नहीं है, किन्तु संस्कृत अपने शुद्ध रूप में भी वहाँ आदरणीय है। स्याम के विश्वविद्यालयों में संस्कृत को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। विशेष रूप से नारियों में अभी भी वहाँ संस्कृत के प्रति रुचि है और उनके विद्यापीठ की उपाधियों में 'महाविशाक' के पद की बड़ी प्रतिष्ठा है।

और यही सब कुछ स्वयं अपने नेत्रों से देखकर १९२७ की अपनी स्याम-यात्रा के अवसर पर महाकवि रवीन्द्र ने बैंकाक के राजमहल में बैठकर लिखा था—

'ओ स्याम! मैं एक यात्री तेरे द्वार पर खड़ा हूँ। स्वयं अपने मन्दिर से बहिष्कृत किन्तु तेरे वक्ष में शरण प्राप्त भारत के अनन्त गौरव को मैं अपनी कविता का अर्घ्य चढ़ाने आया हूँ।'

इण्डोचाइना

इण्डोचाइना (हिन्द चीन) का प्राचीन नाम 'चम्पा' है।

यह देश बहुत समय तक हिन्दू साम्राज्य का एक अङ्ग रहा है। यहां के शासक अपने को 'श्रीमार' वंशज बतलाते हैं। इतिहासकारों के लेखानुसार इस वंश का काल ईसवी की दूसरी शताब्दि माना जाता है।

एक प्राचीन प्राप्त शिलालेख में लिखा है कि—'यहाँ के प्रथम नरेश ओज को स्वयं शिव ने इस प्रदेश में भेजा है।' इसी शिलालेख में एक विचित्र सगर नाम भी आया है जो द्वापर युग के ५६११वें वर्ष में हुए माने जाते हैं।

प्राचीन गाथाओं के अनुसार यहाँ के आदि निवासी वानरों की सन्तान हैं और इसी प्रसंग में उन गाथाओं में रामचरित्र का भी उल्लेख किया जाता है। वहां के निवासी रामायण की घटना को अपने ही देश में हुई मानते हैं।

ईसा की चौथी शताब्दि में यहाँ चार राज्य विद्यमान थे। कौठार, पाण्डुरंग, विजय तथा अमरावती या इन्द्रपुरी। इन राज्यों

में अनेक प्रसिद्ध शासक हुए हैं— श्रीराम, भद्रवर्मन, गंगराज, देववर्मन, पृथ्वीन्द्र वर्मन, विक्रान्त वर्मन, रुद्र वर्मन, शम्भू वर्मन, सत्य वर्मन, इन्द्र वर्मन, परमेश्वर वर्मन, ईश्वरमूर्ति आदि। प्रायः सभी नरेश धर्म के ज्ञाता तथा महान विद्वान थे। इनके शासन काल में इस देश में तीस हज़ार परिवार बसते थे। हिन्दू धर्म राज्यधर्म था।

नरेश विक्रान्त वर्मन तथा प्रकाश धर्म ने कुबेर के मन्दिर निर्मित कराये थे। नरेश सत्य वर्मन ने शंकर का एक विशाल देवालय निर्माण कराया था जिसमें उन्होंने शिव, भगवती और गणेश की प्रतिमायें स्थापित की थीं। यह मन्दिर अभी भी विद्यमान है। नौवीं शताब्दि (८१७ ई०) में नरेश हरिवर्मन ने गणेश का एक मन्दिर निर्मित कराया था।

बारहवीं शताब्दि में इन्द्र वर्मन भी बड़े उत्साही और धर्मप्रिय नरेश थे। उन्होंने भी कितने ही स्थानों पर मन्दिरों का निर्माण कर उनमें शिवलिंगों की स्थापना की थी। मानवाकार शिव मूर्तियों में एकमुखी भी हैं और पंचमुखी भी। कहीं उनके दो भुजायें तथा कहीं छः भुजायें प्रदर्शित की गई हैं। कहीं कहीं नटराज रूप में भी उनके दर्शन होते हैं। हरिहर की मूर्तियों के समान ही यहाँ कितनी ही शम्भू-विष्णु, शिव-केशव आदि की भी मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं। गया के विष्णुपाद तथा सीलोन के बुद्धपाद के समान ही यहाँ शिवपाद भी प्राप्त होते हैं जो यहाँ के अतिरिक्त सम्भवतः संसार में और कहीं भी नहीं हैं।

इण्डोचाइना में शिव के अनेकों मन्दिर अभी भी मिलते हैं।

महेश्वर, महादेव, पशुपति आदि शिव के अनेक नाम देवालयों के शिलालेखों पर पाये जाते हैं। शिवलिङ्गों के नाम भी देवलिंगेश्वर, धर्मलिंगेश्वर आदि हैं।

शिव के साथ ही, प्राचीन काल में, यहां शक्ति की भी उपासना होती थी। शक्ति के भी उमा, गौरी आदि ही नाम थे। उमा की जो मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं उनमें उनके सर पर जटा मुकुट है, ऊपर के दो हाथों में रक्त कमल हैं तथा नीचे के दो हाथ अभय तथा वर मुद्रा में हैं। शक्ति मूर्ति में वह अष्टभुजी हैं और उनके हाथों में खड्ग, धनुष, हस्ति दन्त आदि सुशोभित हैं। इन सभी मन्दिरों की सुरक्षा तथा पूजा आदि में राज्य की ओर से महान् धन राशि व्यय की जाती थी।

राम और कृष्ण की लीलाओं का भी यहाँ प्रचार था। अनेक शिलालेखों में इन लीलाओं के विस्तृत वर्णन प्राप्त हुए हैं।

शंख, चक्र, गदा तथा पद्म धारण किये हुए चतुर्भुज विष्णु की उपासना भी प्रचलित थी और विष्णु के साथ ही कमलासना लक्ष्मी की भी पूजा होती थी। महिलायें लक्ष्मी-पूजा को अधिक महत्व देती थीं।

त्रिदेवों के अतिरिक्त सूर्य, चन्द्र, वरुण, अग्नि, कुबेर, यम तथा गणपति की भी पूजा की जाती थी। ब्रह्मा की भी चार मुख वाली एक मूर्ति खुदाई में यहाँ प्राप्त हुई है। मकर, गरुड़, नन्दी और वासुकी के नाम तथा चित्र भी शिलाओं पर प्राप्त हुए हैं। कलाकार सौन्दर्य वृद्धि के लिए विकसित कमल पुष्पों का ही प्रयोग करते रहे हैं।

इण्डोचाइना के मंदिरों की बनावट दक्षिणी तथा उत्तरी भारत के मन्दिरों के जैसी है। देवमूर्तियों पर भी दक्षिणी भारत का प्रभाव है।

धर्म के अतिरिक्त इस देश के शासन प्रबन्ध तथा कला-कौशल पर भी भारतीय प्रभाव है और समाज भी उस प्रभाव से अछूता नहीं बचा है।

शासन व्यवस्था में राजा को ईश्वर का स्वरूप माना जाता रहा है तथा देश के कानून पर भी मनुस्मृति की अमिट छाप रही है। न्याय को सदा से विशेष महत्व दिया गया है। एक शिलालेख में नरेश हरिवर्मन को न्याय में युधिष्ठिर के समान लिखा गया है।

किसी समय इण्डोचाइना में भी भारतवर्ष की भांति ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण होते थे। ब्राह्मणों का स्थान सर्वोपरि था। ब्रह्म-हत्या को पाप समझा जाता था। ब्राह्मण ही धर्म के नेता थे। राजाओं का राज्यारोहण पूर्णरूपेण हिन्दू शैली से ही होता था। उसमें अभिषेक आदि सभी कृत्य किये जाते थे। राजा पलौथी मारकर सिंहासन पर बैठते थे और जनता के कष्टों को स्वयं सुनते थे। राजगुरु, ज्योतिषी, पुरोहित तथा विद्वान राजाओं को राजकार्यों में सहयोग देते थे। सैनिक घोड़ों पर चढ़ते थे, तलवार और ढालों का प्रयोग करते थे तथा शरीरों पर कवच पहनते थे। राजधानियों के चारों ओर ईंटों की चाहरदीवारियाँ बनाई जाती थीं।

विवाह की शैली भी भारतीय प्रकार की ही थी। उसमें वंश और गोत्र का विशेष ध्यान रखा जाता था, ब्राह्मण ही संस्कार कराता था। विवाह को वहां के निवासी एक धार्मिक बन्धन ही मानते थे।

सती प्रथा का भी प्रचलन था। शव का दाह संस्कार किया जाता था तथा दाह के पश्चात् मृतक की अस्थियाँ पवित्र नदियों में प्रवाहित की जाती थीं। कर्म करने वाला मुण्डन भी कराता था।

महीने भारतीय थे। भाषा संस्कृत थी। रामायण, महाभारत व अन्य धर्मशास्त्रों से वहां के निवासी परिचित थे। वहां के साहित्य में अभी भी भारतीय साहित्य की अनेकों कथायें आती रहती हैं।

इस प्रकार वर्तमान काल का इण्डोचाइना किसी समय भारतीय सभ्यता और संस्कृति का एक प्रमुख केन्द्र था। इतिहासकारों के कथनानुसार यह देश १६वीं शताब्दि तक हिंदू शासित प्रदेश रहा है। इसके पश्चात् इस देश की स्वाधीनता नष्ट हो गई और इसकी अपनी आर्य-सभ्यता तथा संस्कृति भी धीरे-धीरे विलुप्त होने लगी। किन्तु इतना सब कुछ होने पर भी आज हमें इण्डोचाइना में हिन्दू सभ्यता और संस्कृति की झलक स्पष्टतया दीख पड़ती है।

इस समय इण्डोचाइना में पाँच राज्य हैं—कोचीन चीन, अन्नम, कम्बोडिया, तोंकिंग तथा लाओस।

कम्बोडिया

कम्बोडिया का प्राचीन नाम 'कम्बुज' है। १०वीं शताब्दि तक सारा इण्डोचाइना ही कम्बुज कहलाता था। इतना ही नहीं स्याम और मलाया भी उस समय तक कम्बुज के ही अन्तर्गत थे।

कहते हैं किसी समय महर्षि कंबु ने यहाँ निवास किया था और भगवान् शंकर की प्रेरणा से 'मीरा' के द्वारा यहाँ के राजवंश की स्थापना की थी। इन्हीं कंबु ऋषि के नाम पर इस देश का

नाम कम्बुज हुआ और शैव धर्म यहाँ का राजधर्म बना।

एक दूसरी जनश्रुति के अनुसार इन्द्रप्रस्थ के नरेश आदित्य ने अपने एक पुत्र को क्रुद्ध होकर अपने देश से निर्वासित कर दिया था और उसी ने कम्बुज पहुँच कर वहाँ नाग-पुत्री से विवाह किया और वहाँ के राजवंश की प्रतिष्ठा की थी।

७वीं से १०वीं शताब्दि तक कम्बुज में अनेक महान् नगरों की प्रतिष्ठा हुई। श्रेष्ठवर्मा ने श्रेष्ठपुरी का निर्माण किया, महेन्द्र वर्मा ने भावपुरी का निर्माण कर उसे अपनी राजधानी बनाया तथा ईसानवर्मा ने ईसानपुरी की प्रतिष्ठा की। ये सभी नगर अभी भी कम्बोडिया में पाये जाते हैं। ६वीं से १२वीं शताब्दि तक, जैसा कि तत्कालीन इतिहास ग्रन्थों से प्रकट होता है, कम्बुज का साँस्कृतिक वैभव अपने मध्याह्न पर था। उसके चिह्न स्वरूप 'अंकोर-वात' तथा 'अंकोर-थोम' के महान् मन्दिर आज भी कम्बोडिया में विद्यमान हैं।

अंकोर का विशाल देवालय १२वीं शताब्दि में निर्मित हुआ था। इसके चारों ओर एक खाई है जो ७०० फिट चौड़ी है। उसे पार करने के लिये सात सिर वाले नागों के आकार के खंबों पर ३६ फिट चौड़ा एक पुल बना हुआ है। चारों कोनों पर १८० फिट ऊँचे मीनार हैं। मन्दिर की दीवारों पर हिन्दू देवी देवताओं तथा रामायण, महाभारत व पुराणों की अनेक कथाओं से सम्बन्धित लगभग २० चित्र भी अङ्कित हैं। किसी समय इस मन्दिर में भगवान् विष्णु की उपासना होती थी। बाद में बौद्धों ने इसे अपना विहार बना लिया था।
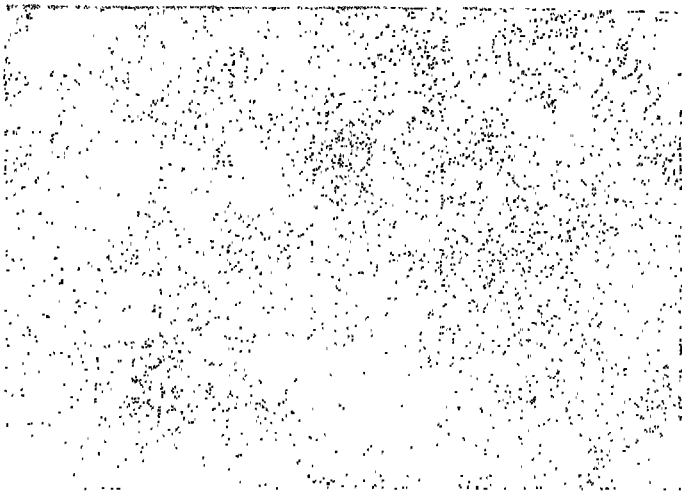
कनक मृग [कम्बोडिया का एक शिला चित्र
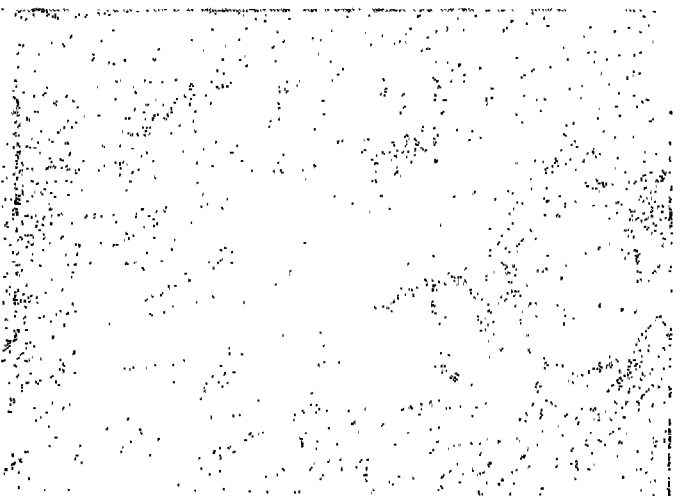
कैलाश को उठाता हुआ दशानन रावण [कम्बोडिया

चौदहवीं शताब्दि में निर्मित ईश्वरपुर के एक देवालय में एक मूर्ति है जिसमें रावण कैलाश पर्वत को अपने हाथों पर उठा रहा है।

एक दूसरे नगर हेमशृङ्गगिरि के एक मन्दिर में भी रामायण की कथाओं से संबन्धित अनेक चित्र बने हुए हैं जिनमें राम-सुग्रीव की भेंट, बाली सुग्रीव का द्वन्द्व युद्ध, राम को कन्धे पर बैठाये हुए हनुमान, सीता जी की अग्नि परीक्षा, सिंहासनारूढ़ श्रीराम तथा सिंहों द्वारा खींचे जा रहे रथ में विराजमान श्रीराम के चित्र मुख्य हैं।

इन सभी मन्दिरों को देखने से प्रतीत होता है कि प्राचीन कम्बोडिया में शैव और वैष्णव दोनों ही मतों का पर्याप्त प्रचार था तथा देश में हरि-हर दोनों की ही उपासना होती थी।

वहाँ के तत्कालीन राजाओं ने विष्णु तथा शंकर दोनों ही आदि देवों के बड़े-बड़े देवालयों का निर्माण करा कर अपनी आस्तिकता और धर्म प्रेम का परिचय दिया था।

किसी समय इस देश में संस्कृत भाषा का व्यापक प्रचार था तथा वहाँ अनेकों वन्य पाठशालायें थीं। राजघराने के लोग भी ब्राह्मणों से वेद की ऋचाएँ एवं ज्योतिष, न्याय और व्याकरण के पाठ बड़ी श्रद्धा से पढ़ते थे।

छटी शताब्दि के एक लेख में उल्लेख है कि सोमशर्मा नाम के एक ब्राह्मण ने एक स्थान पर रामायण, महाभारत तथा पुराणों के नियमित पाठ चलते रहने की व्यवस्था की थी।

नवीं शताब्दि के चीनी लेखकों ने कम्बोडिया निवासियों के विषय में जो कुछ लिखा है उससे ज्ञात होता है कि— 'उस समय वहाँ के लोग दृढ़ और कर्मठ होते थे। वे दाहिने हाथ को शुद्ध

और बायें हाथ को अशुद्ध मानते थे। प्रतिदिन स्नान करते थे। वृक्ष की लकड़ी की दांतुन से दांत साफ करते थे। धर्म ग्रन्थों का पाठ कर प्रार्थना करते थे और उसके पश्चात् भोजन करते थे। भोजन में वे घी, मलाई, चीनी, चावल तथा बाजरे की रोटी खाते थे। घर में किसी की भी मृत्यु हो जाने पर सूतक मानते थे तथा बिना बाल कटाये साल दिन तक शोक मनाते थे। शव को सुगंधित लकड़ी की चिता पर रखकर फूंकते थे और चिता की राख को सोने चांदी की डिबिया में बंद करके किसी नदी में प्रवाहित कर देते थे।'

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि कम्बोडिया उस समय तक केवल नाम से ही नहीं किन्तु अपनी संस्कृति से भी भारत का ही एक अङ्ग था और यह संस्कृति दीर्घ काल तक वहाँ अपने विशुद्ध रूप में फली फूली थी।

उस समय कम्बोडिया में भारत के समान ही वर्ण व्यवस्था भी प्रचलित थी। दसवीं शताब्दि के एक प्राप्त शिला लेख में लिखा है कि— 'वर्ण और आश्रमों को दृढ़ आधार पर स्थापित करके राजेन्द्र वर्मा और उनके पुत्र जयवर्मा ने भगवान् को प्रसन्न किया।' नरेश यशोवर्मन ने भी वर्ण व्यवस्था को अत्यन्त महत्व प्रदान कर वान-प्रस्थियों तथा संन्यासियों के लिए देश के विभिन्न भागों में लगभग एक सौ आश्रमों की स्थापना की थी।

संस्कृत के विद्वानों का वहाँ सदा से ही आदर रहा है। कम्बोडिया के निवासी भारतीय संस्कृत कवियों के काव्यों का आनन्द लेते रहे हैं और पाणिनी का व्याकरण भी वहाँ बड़े चाव से पढ़ा जाता रहा है।

एक शिला लेख से ज्ञात हुआ है कि बारहवीं शताब्दि में वेदों के परम विद्वान् हृषीकेश नाम के एक पण्डित कम्बोडिया गये थे। तत्कालीन नरेश श्री जयवर्मा सप्तम ने उन्हें 'श्री जयप्रधान' की उपाधि से अलंकृत कर अपना राज पुरोहित बनाया था। वहाँ उन्होंने एक शैव कन्या श्री प्रभा से अपना विवाह भी किया था।

कुछ शिला लेखों में सुश्रुत, मनुस्मृति तथा हरिवंश पुराण का भी उल्लेख मिलता है। आयुर्वेद का परिचय कम्बोडिया को धर्म देव तथा सिंह देव दो भ्राताओं द्वारा हुआ है। वहाँ के चिकित्सकों द्वारा इन्हें अश्वनी कुमार कहा जाता है।

कम्बोडिया की वर्णमाला का विकास भी दक्षिण भारत की लिपि से ही हुआ है।

१५वीं शताब्दि में कम्बोडिया का पतन हुआ और वहाँ स्याम के बौद्ध धर्मावलम्बी नरेशों का राज्य हो गया। बौद्ध धर्म राजधर्म घोषित कर दिया गया। तभी से वर्तमान समय तक कम्बोडिया एक बौद्ध देश है किन्तु फिर भी वहाँ बहुत बड़ी संख्या में हिन्दू निवास करते हैं। पुरानी भारतीय शैली से बाँधी गई धोती ही वहाँ की राष्ट्रीय भूषा में सम्मिलित है। सभी व्यक्ति हिन्दू प्रथा के अनुसार ही शव का दाह-संस्कार करते हैं। गोद लेने की भी प्रथा है। स्त्रियों को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है तथा व्यभिचार को घृणास्पद समझा जाता है। वहाँ के निवासी अपने को आर्य देश के वंशज कहने में गौरव का अनुभव करते हैं। विघ्न-विनाशक के रूप में गणेश का पूजन भी वहाँ अभी तक होता है।

कम्बोडिया के राजमहल में एक तलवार रक्खी है जिसे 'इन्द्र

की तलवार' कहा जाता है। उत्सवों पर इस तलवार की शोभा यात्रा बड़ी धूमधाम से निकलती है।

लाओस

हिन्द चीन का एक दूसरा राज्य है लाओस। वहाँ की भी सभ्यता और संस्कृति भारत से बहुत कुछ मिलती जुलती ही है। अभी पिछले दिनों लाओस के युवराज श्री सुअङ्ग वर्धन भारत पधारे थे। वहाँ के प्रधान मंत्री ने हवाई अड्डे पर पत्र प्रतिनिधियों से भेंट करते हुये कहा था कि— 'आज हम जिस भारत भूमि पर अपने देश की श्रद्धाञ्जलि लेकर आये हैं, वह हमारे लिए नई नहीं है। भारत और लाओस निवासी आध्यात्मिक मूल की दृष्टि से एक ही हैं।' अपने एक दूसरे भाषण में भी उन्होंने कहा था कि— 'सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से लाओस और भारत एक हैं। हम किसी भी प्रकार की प्रेरणा प्राप्त करने के लिए सदैव भारत की ओर ही देखते रहे हैं।'

६वीं शताब्दि तक दक्षिण के राजाओं का सम्बन्ध लाओस से रहा है और वही काल लाओस की उन्नति का चरमकाल माना जाता है।

यहाँ के गद्य तथा पद्य साहित्य का मूल रामायण और महाभारत ही है। संस्कृत भाषा और पल्लव लिपि लाओस की सरकारी भाषा तथा लिपि रही है।

मलाया

मलाया का प्राचीन नाम है– 'मलय'।

इस द्वीप का उल्लेख अनेक भारतीय पुराणों में मिलता है। वायु पुराण में वर्णित छै द्वीपों में एक मलय भी है।

केम्ब्रिज से प्रकाशित एक रिपोर्ट में श्री इवान्स ने लिखा है कि 'मलाया के प्राचीन निवासी हिन्दू थे।'

डा० वेल्स की सम्मति में भी 'किसी समय इस प्रदेश में हिन्दुओं का ही पूर्ण अधिकार था और आग्नेय एशिया में भारतीय शक्ति और संस्कृति के विस्तार की यह एक चौकी थी।'

भारत के दक्षिणी भाग में केरल के आस-पास के भूमिखण्ड का प्राचीन नाम 'मलय' ही था। आज भी वहाँ की भाषा को 'मलयलम' के नाम से ही पुकारा जाता है। इसी स्थल के निवासियों का इस देश के साथ विशेष सम्पर्क रहा है और सम्भवतः उन्होंने ही इस द्वीप का नामकरण भी किया है।

ईसा की प्रथम शताब्दि में ग्रीक लोगों ने इसे 'स्वर्ण देश' के नाम से सम्बोधित किया है। द्वितीय शताब्दि में यहाँ के निवासी

हिन्दुओं के वैभव तथा उनकी सभ्यता और संस्कृति का स्पष्ट उल्लेख प्राचीन इतिहासों में पाया जाता है।

चीनी इतिहासों से ज्ञात होता है कि छटी शताब्दि में यहाँ कटाह नाम का एक राज्य था और संस्कृत वहां की राज्य भाषा थी। पुराणों में कटाह नाम से भी एक द्वीप का नाम आया है। अब भी मलाया में केडाह नाम की एक छोटी सी पहाड़ी है जिस पर कई टूटे फूटे मन्दिर खड़े हैं। इन मन्दिरों में दुर्गा, गणेश और नन्दी की मूर्तियाँ विद्यमान हैं।

द्वीप के अनेक भागों में जो खुदाइयाँ हुई हैं उनमें भी धातु तथा प्रस्तर की गणेश आदि अनेक देवी देवताओं की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं।

प्राचीन यात्रियों ने अपनी पुस्तकों में यहाँ के विभिन्न राज्यों का वर्णन करते हुए एक राज्य के विषय में लिखा है कि 'इसमें ५०० परिवार व्यापारियों के, ५०० बौद्धों के तथा १००० परिवार ब्राह्मणों के हैं। राज्य की जनता ब्राह्मण धर्म को मानती है और अपनी बालिकाओं के विवाह भी ब्राह्मणों के साथ करती है। ये ब्राह्मण दिन रात पूजा पाठ तथा देवोपासना में ही लगे रहते हैं।' इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि मलाया में उस समय ब्राह्मणों का प्रभुत्व था और यह भी मलाया में हिन्दू संस्कृति के अस्तित्व का ही प्रमाण है। आजकल भी मलाया के कई नगरों में ब्राह्मणों की कुछ बस्तियाँ हैं।

रामायण की कथा मलाया में 'हिकायत सेरी राम' के नाम से प्रसिद्ध है। इस ग्रंथ में राम, सीता, लक्ष्मण आदि रामायण के

सभी पात्रों का बड़ा सुन्दर चित्रण है। मलाया के निवासी राम पर अत्यन्त श्रद्धा रखते हैं तथा राम के चरित्र को बड़े प्रेम से पढ़ते हैं।

मलाया के दक्षिणी भाग का नाम मलक्का है। पुर्तगाली इतिहासकारों का कहना है कि यहाँ के नरेश परमीसुरा थे जिनका विवाह जावा की राजकुमारी से हुआ था। परमीसुरा शब्द परमेश्वर का ही अपभ्रंश है।

मलाया में पन्द्रहवीं शताब्दि तक हिन्दू राज्य रहा है। इतिहास-कार विन्सेएट का कहना है कि 'हिन्दुओं के समय यहाँ विद्वानों का बड़ा आदर होता था और धर्म का भी खूब प्रचार था।' उसके पश्चात् यहाँ मुसलमानों का आधिपत्य हो गया और वहाँ के नरेश को मुसलमान बना लिया गया। तब से वहाँ के शासकों के नाम अरबी हो गये किन्तु फिर भी उन्होंने अपने नाम के साथ अपनी उपाधि 'श्रीमहाराज' ही रक्खी। सेनापति को 'दत्त श्री विजयधिराज', सचिव को 'प्रधान मन्त्री' तथा सुलतान के जूतों के विभाग अधि-कारी को 'दत्त पादुका राजा' ही कहा जाता रहा।

चीनी लेखक श्री है-यू का कहना है कि १५३७ तक यहाँ के निवासी देवनागरी अक्षरों का ही प्रयोग करते थे। मुसलमान शासक सुलतानों के नाम के साथ अभी भी वहाँ 'श्री' ही लिखा जाता है।

मलाया की भाषा में बहुत से अक्षर मूलतः संस्कृत के ही हैं। वहां भाषा को बहासा, अभ्यास को अविहास, वंश को बंगस, नगरी को नेग्री, सहायक को सहया, बिचार को बिचार, कारण को केरन कहा जाता है।

मुसलमान सुलतानों के गद्दी पर बैठने की पद्धति भी हिन्दू राज्याभिषेक प्रथा से बहुत कुछ मिलती जुलती है। पेराक के सुलतान जब गद्दी पर बैठते हैं तो उन पर पीसा हुआ चावल एक कूँची से छिड़का जाता है। इस कूँची को ब्राह्मण ही बनाते हैं। सुलतान एक केले के पत्ते पर बैठते हैं और उनका जल से अभिषेक किया जाता है। अभिषेक करने वाला व्यक्ति यद्यपि मुसलमान ही होता है किन्तु उसके यहाँ गोमांस खाना निषिद्ध होता है। इससे स्पष्ट है कि यह अधिकार कभी किसी ब्राह्मण परिवार का रहा होगा जो बाद में मुसलमान हो गया होगा। अभिषेक के समय ब्राह्मणों द्वारा मंत्र पाठ के समान ही मौलवी खड़े होकर प्रार्थना करते हैं। अभिषेक हो जाने पर सुलतान की कमर में एक छुरा बाँधा जाता है जिसको 'छुरिका मंदाकिनी' कहते हैं। कहा जाता है कि यह वही अस्त्र है जिसको १४वीं शताब्दि में यहाँ के राजा अदिति वर्मन बांधा करते थे। इस छुरी पर भैरव और दुर्गा की मूर्तियाँ अङ्कित हैं।

नेगरी सैम्बिलन के सुलतान भी अभिषेक के पश्चात् जिस रथ पर बैठ कर निकलते हैं उसका नाम 'महाराजाधिराज' है। वहाँ राजा को इन्द्र कहा जाता है तथा राजमहल को 'शैलेन्द्र'। राज्याभिषेक के समय अरबी में पाँच दिशाओं के पाँच देवताओं का आवाहन किया जाता है। जो सरदार सुलतान के बाएँ दाएँ खड़े होते हैं उन्हें पङ्गलियराज तथा लक्ष्मण कहा जाता है। सुलतान के सामने पवित्र जल से भरे आठ कलश रक्खे जाते हैं।

ये सभी प्रथाएँ बहुत अंशों में हिन्दू राज्याभिषेक की प्रथा से ही मिलती जुलती हैं।

मलाया आज एक इस्लामी देश है किंतु फिर भी वहाँ के निवासियों के हृदय से हिन्दू धर्म का प्रभाव नष्ट नहीं हुआ है। जादूगर आज भी वहाँ अपना प्रभाव दिखाने से पहिले गणेश और काली का ही आवाहन करते हैं। उनमें विश्वास है कि पृथ्वी सांड नन्दा के सींग पर ही टिकी हुई है। शिव को वे 'जिनों' का राजा मानते हैं। गृह नक्षत्रों को वे अर्जुन का तीर कहते हैं। गरुड़ की मूर्ति का जलूस वहाँ अभी भी निकलता है। कोई भी धार्मिक कृत्य करने से पूर्व वे लोग स्नान भी करते हैं।

'सुन-गे ई-बत' में एक मन्दिर है तथा उसमें कुछ प्रतिमायें भी हैं। इससे ज्ञात होता है कि वहाँ कभी शिव, पार्वती, गणेश और नन्दी की पूजा होती थी।

'फः नो' पर्वत पर भी एक भग्न वैष्णव देवालय है जिसमें विष्णु की प्रतिमा भी है। एक शिला लेख से ज्ञात हुवा है कि वहाँ ५वीं से ६वीं शताब्दि तक कोई हिन्दू नगर था।

भाषा, परम्परा, रीति-रिवाज तथा आचार-विचार की दृष्टि से मलाया आज भी, इस्लाम की दीक्षा ले लेने के पश्चात् भी, एक हिंदू देश ही है।

इण्डोनेशिया

इण्डोनेशिया नाम दो यूनानी शब्दों के योग से बना है। 'इण्डो' अर्थात् इण्डिया या भारत और 'नेसॅस' अर्थात् द्वीप। अतएव इण्डोनेशिया का अर्थ होता है 'द्वीपों का भारत'।

इण्डोनेशिया देश का आदर्श वाक्य है 'भिन्ने का तुंग्गल इका' अर्थात् 'भिन्नता में एकता' और यह वाक्य इस देश के लिए पूर्ण रूप से सार्थक भी है, कारण कि इस देश में हजारों छोटे बड़े द्वीप हैं और उन सभी को एकता के सूत्र में पिरो कर इस गणतंत्र राज्य की स्थापना हुई है।

ये सभी द्वीप किसी समय भारतीय उपनिवेश नहीं किन्तु भारत के अपने ही अङ्ग, हिन्दू आध्यात्मिक विचार धारा के केन्द्र तथा हिन्दू सभ्यता और संस्कृति के प्रमुख गढ़ रहे हैं। इण्डोनेशिया के राष्ट्रपति श्री सुकर्णो ने एक बार नेहरू जी को लिखा था कि 'आप का देश और आपकी जनता इतिहास के प्रारम्भ काल से ही हमारे साथ रक्त और संस्कृति दोनों ही सूत्रों से बंधी हुई है। इण्डिया नाम को एक क्षण भी विस्मृत करना हमारे लिए असम्भव है

क्योंकि यह शब्द हमारे देश के नाम का पूर्वार्ध है। आपके प्राचीन देश की संस्कृति का उत्तराधिकार हमें कहाँ तक प्राप्त हुआ है जिसका एक ज्वलंत प्रमाण तो मेरा अपना नाम ही है।' और इण्डोनेशिया के राष्ट्रपति का यह कथन यथार्थ में ही सत्य है, कारण कि रामायण तथा बौद्ध ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इन द्वीपों के साथ भारत का यह सांस्कृतिक सम्बन्ध बहुत पुराना है।

राजनैतिक दृष्टिकोण से भी मुसलमानों के प्रवेश से पूर्व तक ये सभी द्वीप भारतीय साम्राज्य के अन्तर्गत ही रहे हैं और आज भी जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, बाली आदि सभी द्वीपों में भारतीय सभ्यता और संस्कृति उसी प्रकार जीवित और जागृत है जैसी भारत में।

जावा

जावा का प्राचीन नाम है— 'यवद्वीप'।

बाल्मीकि रामायण में लिखा है कि सुग्रीव ने भगवती सीता की खोज के लिए इस द्वीप में भी बानरों को भेजा था। इस द्वीप का परिचय देते हुवे वानर राज ने इसे 'सुवर्ण रूप्यक द्वीप' (सोने चाँदी का द्वीप) कहा था। इससे स्पष्ट है कि रामायण काल में यह द्वीप अत्यन्त सम्पन्न अवस्था में था।

तोलेमी ने भी अपने भूगोल में इस द्वीप का उल्लेख 'जव-दीऊ' के नाम से किया है और उसका अर्थ बताया है 'यव (जव) का द्वीप'। इस द्वीप का आकार भी यव (जौ) के जैसा ही है।

चीनी लेखों में भी इसके लिये 'ए-ती-औ' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका अर्थ भी यव-द्वीप ही होता है।

इण्डोनेशिया के राष्ट्रपति सुकर्णो के कथनानुसार इस द्वीप में भारतीय यात्री यव अर्थात जौं की खोज में आये थे और इसी से इसका नाम जव या जावा पड़ा है ।

जावा में प्राप्त शिला लेखों में सबसे प्राचीन नाम महर्षि अगस्त का प्राप्त होता है । अगस्त ने ही इस द्वीप में शिव पूजा का प्रसार किया था अतः उन्हें सम्पूर्ण जावा में आध्यात्मिक गुरु का गौरव प्राप्त हुआ था । द्वीप में उनकी प्रसिद्धि 'शिवगुरु' के नाम से हुई थी । बाली द्वीप वासी अपनी भाषा में उन्हें 'वालैंग' कहते थे जिसका अर्थ होता है 'अगस्त नक्षत्र' ।

महर्षि अगस्त की सैंकड़ों मूर्तियाँ जावा में यत्र-तत्र प्राप्त हुई हैं । इतिहासकार रेफिल्स ने लिखा है कि 'जावा में पर ब्रह्म परमेश्वर की सत्ता के पश्चात् सर्वाधिक पूजनीय स्थान भट्टर गुरु (अगस्त) का ही है ।' यहाँ जब कहीं भी शपथ लेने का कोई प्रसङ्ग उपस्थित होता है तो अगस्त का ही नाम लिया जाता है ।

एक प्राप्त शिला लेख में तो यहाँ तक लिखा है कि 'जब तक आकाश में सूर्य और चन्द्र विद्यमान हैं, पृथ्वी के चतुर्दिक चार सागरों की मेखला है तथा दसों दिशाओं में वायु का प्रभाव है तब तक अगस्त के नाम का सुयश भी अक्षुण्ण है ।'

इतिहासकार एलफिस्टर के कथनानुसार— 'सम्राट अशोक के प्रसिद्ध कलिङ्ग युद्ध में पराजित बहुत से व्यक्ति जावा में जाकर बस गये थे ।' जावा के प्राचीन इतिहास से भी इस घटना की पुष्टि होती है । इन व्यक्तियों ने यहाँ आकर 'अजीशाक' नाम से एक नवीन सम्वत् भी चलाया था जो वहाँ अभी तक भी प्रचलित

सरस्वती मूर्ति [जावा

अगस्त मूर्ति [जावा

है। इस सम्वत् का प्रारम्भ ईसा से ७५ वर्ष पूर्व हुवा था।

चीनी इतिहासों से ज्ञात होता है कि ईसा की प्रथम शताब्दि में भी वहाँ हिन्दू धर्म का अच्छा प्रचार था।

पाँचवीं शताब्दि में भारत के महान् खगोल विज्ञानवेत्ता श्री आर्यभट्ट ने जावा की पूर्वी सीमा स्थित यवकोटि में गणित द्वारा मध्याह्न का समय स्पष्ट किया था। इसी शताब्दि के प्राप्त एक शिला लेख से यह भी ज्ञात होता है कि यहाँ के किसी नरेश पूर्णेन्दु बर्मन ने अपने शासन काल में एक नहर खुदवाई थी जिसका नाम उन्होंने 'गौतमी' रक्खा था। इस अवसर पर उन्होंने ब्राह्मणों को बहुत सी दक्षिणा तथा एक हजार गायें दान में दी थीं। इसी शिला लेख में पूर्णेन्दु बर्मन के दादा राजर्षि का भी उल्लेख आया है, उसने 'चन्द्रभागा' नहर खुदवाई थी।

सुप्रसिद्ध चीनी यात्री फाहियान भारत से लौटते हुवे मार्ग में कई मास तक जावा में भी ठहरे थे। उन्होंने अपनी यात्रा के वर्णन में लिखा है कि 'यहाँ हिन्दू धर्म का बहुत व्यापक प्रभाव है।'

उन दिनों जावा में चतुर्वर्ण का महत्व समाज में स्वीकृत था तथा वर्ष गणना के लिये शालिवाहन-शाक सम्वत् का प्रचार था।

फाहियान की यात्रा के कुछ समय पश्चात् ही बौद्ध धर्म ने जावा में प्रवेश किया। बहुत से हिन्दू जिन्हें बौद्ध धर्म प्रभावित न कर सका इस द्वीप को त्याग कर निकट के ही बाली द्वीप में जा बसे, किन्तु जो हिन्दू बौद्ध बन भी गये वे भी हिन्दू धर्म और संस्कृति का प्रभाव अपने ऊपर से न हटा सके। वहाँ के देव मंदिर

इसका स्पष्ट प्रमाण हैं। इन मन्दिरों में शिव और बुद्ध को एक मानकर ही उनकी पूजा की जाने लगी और इन मन्दिरों को 'शिव-बुद्धालय' के नाम से सम्बोधित किया गया। जावा के अनेक प्राचीन ग्रंथों में तो बुद्ध को शिव का छोटा भाई ही लिखा गया है। धार्मिक अवसरों पर भी यहाँ के निवासी हिन्दू तथा बौद्ध दोनों धर्मों के ही पुरोहितों को बुलाने लगे और उनके सहयोग से अपनी धार्मिक क्रियायें सम्पन्न करने लगे।

सातवीं शताब्दि में जावा शैलेन्द्र शासकों के साम्राज्य में आया। उस युग की मूर्ति कला, जो जावा के मध्य भाग 'बोरोबदूर' में प्राप्त होती है, उस समय की संस्कृति पर पर्याप्त प्रकाश डालती है। इस राजवंश ने यहाँ ८वीं से ११वीं शताब्दि तक शासन किया।

७६० ई० के एक शिला लेख से ज्ञात होता है कि पूर्वी जावा के एक नरेश गजयान ने वृष्टि होने के लिए 'महर्षि भवन' का निर्माण कराया था और उसमें कुम्भ लग्न में कुम्भ योनि महर्षि अगस्त की प्रतिमा स्थापित की थी।

इसी शताब्दि में निर्मित ६००० फीट ऊँचे डीग पठार पर स्थित शिव-मन्दिर भी तत्कालीन जावा के हिन्दुओं के धर्म प्रेम का स्पष्ट प्रमाण है।

जावा में बहुत प्राचीन काल से ही राम कथा का व्यापक प्रचार रहा है। वहाँ का रामचरित्र, जिसे वे लोग 'सेरत राम' कहते हैं, बाल्मीकि की रामायण के आधार पर ही लिखा गया है, केवल उत्तर काण्ड उसमें नहीं है।

जावा में गद्य तथा पद्य दोनों में ही रामायण के अनेक

संस्करण प्रचलित हैं। इनमें से कुछ जावा की अपनी 'कवि' भाषा में भी लिखे हुवे हैं। मुख्य संस्करण योगीश्वर की रामायण का है। जावा के लोगों का विश्वास है कि रामायण की घटनायें उन्हीं के अपने देश में घटी हैं। वहाँ की मुख्य नदी का नाम भी सरयू ही है।

नौवीं शताब्दी में जावा में जिन हिन्दू मन्दिरों की स्थापना हुई थी वे भी जावा निवासियों के हिन्दू धर्म के प्रति श्रद्धा के स्पष्ट प्रमाण हैं। ये सभी मन्दिर शिल्प की दृष्टि से बहुत ही विशाल और भव्य हैं। 'चण्डी जागरम्' का ६० फुट ऊँचा मन्दिर—जिसमें ब्रह्मा, विष्णु, शिव, शक्ति और नन्दी के प्रथक प्रथक देवालय हैं—किसी भी प्रकार बोरो बुदूर से कम नहीं है। इन सभी मन्दिरों की वेदिकाओं पर भी श्री राम तथा कृष्ण की लीलाओं के अनेक चित्र बने हुवे हैं। इन चित्रों में विराध-वध, राम द्वारा मारीच का पीछा करना, कबंध वध, राम सुग्रीव का मिलन, सीताजी की खोज, राम रावण का युद्ध, पुष्पक विमान आदि के चित्र बड़ी ही सुन्दरता के साथ अङ्कित किये गये हैं।

जोगजा नामक स्थान पर भी दीवारों पर श्री राम कथा के अनेक चित्र अभी तक प्राप्त होते हैं।

रामायण के समान ही जावा में महाभारत का भी खूब प्रचार है। महाभारत को भी वहाँ के लोग अपने ही देश की घटना मानते हैं और पाण्डवों तथा यादवों से अपनी वंशावली जोड़ते हैं। दसवीं शताब्दी में राजा धर्म वंश के शासन काल में जावा की अपनी भाषा में महाभारत का जो अनुवाद हुवा था वह अभी तक भी वहाँ बहुत प्रचलित है। बारहवीं शताब्दी में 'भारत युद्ध' के नाम

से महाभारत के प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना हुई। यह ग्रन्थ भी अभी उपलब्ध है।

जावा में कठपुतलियों के खेल के द्वारा ही रामायण और महाभारत की कथाओं का पर्याप्त प्रचार है। मुसलमानों के यहाँ भी विवाह आदि अवसरों पर ये खेल खेले जाते हैं।

रैफल्स ने अपने इतिहास में लिखा है कि– 'जावा के लोग इन खेलों को रात-रात भर देखकर भी नहीं अघाते। इनसे उनमें राष्ट्र की प्राचीन स्मृति जागृत हो उठती है।'

रामायण और महाभारत के अतिरिक्त ब्रह्माण्ड पुराण, भुवन कोश, बृहस्पति तत्व, कामन्दक नीति, कुमार सम्भव, भौम काव्य आदि ग्रन्थ भी यहाँ प्रचलित हैं।

बारहवीं शताब्दी में राजा जजवाजा महंक के शासनकाल में जावा में हिन्दू संस्कृति से सम्बंधित व्यवस्थाओं को बहुत सम्मान प्राप्त हुवा था, ऐसे प्रमाण भी प्राप्त हुवे हैं।

११५७ ई० में लिखे गये एक शिला लेख में श्रीराम तथा कृष्ण की लीलाओं का विशद वर्णन प्राप्त हुवा है। सच पूछा जाये तो जावा के खण्डहरों, मन्दिरों और मूर्तियों में हिन्दुत्व का प्राचीन स्वरूप सोया पड़ा है।

पन्द्रहवीं शताब्दी में इस द्वीप पर मुसलमानों का अधिकार हुवा। उन्होंने वहाँ के कई छोटे-छोटे राजाओं को मुसलमान बनाकर विद्रोही बना दिया और वहाँ के असंख्य हिन्दुओं ने उनके अत्याचारों से त्राण पाने के लिये वहाँ से भागकर बाली में आश्रय ग्रहण किया।

किन्तु इतना सब कुछ होने पर भी मुसलमान वहाँ की संस्कृति को नष्ट नहीं कर सके। जावा में आज इने गिने ही हिन्दू रहते हैं, किन्तु फिर भी वहाँ अनेक मन्दिर हैं और मुसलमान, मस्जिदों में नमाज पढ़ने जाने के समय, उनकी मूर्तियों पर फूल चढ़ाते हैं, दीपक जलाते हैं तथा पवित्रता पूर्वक उनकी रक्षा भी करते हैं। रामायण तथा महाभारत के नायकों को वे अपना आदर्श और पूर्वज मानते हैं।

जावा में अभी भी चान्द्र मास मानने की पद्धति है और भारतीय पंचांग का ही प्रयोग होता है।

जावा की भाषा यद्यपि वहाँ की अपनी निजी है किन्तु फिर भी वह संस्कृत समन्वित है। उसमें अनेक शब्द ऐसे हैं जो शुद्ध संस्कृत के ही हैं जैसे अन्तःपुर, आर्य, वज्र, ईश्वरगृह, कुमुद, गृहस्थ, जय, तरुण, कुटि, पंकज, श्रीफल, नीलकुसुम, आदि। अनेक नगरों के नाम भी ऐसे ही हैं जैसे अयोध्यापुर, खाण्डव वन, धर्मनगर, नन्दन वन, नन्दीनगर, वकुलपुर, रंगपुर, लोचनपुर आदि।

जावा के मुसलमान सुलतान भी 'भुवन सेनापति' की उपाधि के साथ ही सम्बोधित किये जाते हैं।

संस्कृत वहाँ पवित्र भाषा के रूप में मान्य है। संस्कृत के अनेक ग्रन्थ अपने मूल रूप में तथा वहाँ की अपनी भाषा में अनुवादित दोनों ही प्रकार से वहाँ मिलते हैं।

वेदों के अधिकांश महत्वपूर्ण भाग भी वहाँ अभी तक उपलब्ध हैं। जावा का धर्मशास्त्र मनु प्रणीत है। वह मनु को 'प्रभुमनु' कहते हैं।

जावा में जो हिन्दू अभी भी निवास करते हैं वे 'शैव' हैं। पर्व के दिनों में उनमें अभी भी उपवास रखने की प्रथा है। पंचांग निर्माण तथा ज्योतिष का वे कार्य करते हैं। वेदादि ग्रन्थों का पाठ करते हैं। धोती पहनते हैं।

१६३६ ई० में जावा के प्रसिद्ध राष्ट्रीय नेता डा० रोडेन सोतोमो भारत पधारे थे। आप ने यहाँ अपने एक भाषण में कहा था कि—'कुछ ही शताब्दियों पहिले हमारे द्वीप के छः करोड़ निवासी हिन्दू थे। हम वीर क्षत्रियों की संतान हैं। यद्यपि हमारा राजधर्म इस्लाम है तथापि मुर्दों को गाड़ने और खतना कराने को छोड़कर हम आज भी हिन्दू ही हैं। हमारे यहाँ के विद्वान मसजिदों में बहुत कम जाते हैं। वे अपनी भाषा में छपी गीता पढ़ते हैं। रामायण और महाभारत का अब भी हम लोगों के यहाँ पाठ होता है, राम और कृष्ण की लीलाएँ दिखाई जाती हैं और उनका प्रभाव हमारे चरित्रों पर पड़ता है। हमारे यहाँ बालक बालिकाओं के नाम भी प्रायः संस्कृत में ही रखे जाते हैं।'

इन सभी बातों से जावा पर हिन्दू संस्कृति का प्रभाव स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है।

सुमात्रा

सुमात्रा का प्राचीन नाम है 'सुवर्ण द्वीप'।

वाल्मीकीय रामायण (किष्किंधा काण्ड), महाभारत (वन पर्व), कौटिल्य का अर्थशास्त्र, कथा सरित्सागर तथा बौद्ध जातकों में कितने ही स्थलों पर इस द्वीप का नाम आया है।

अरब इतिहासकारों ने लिखा है कि यह द्वीप प्राचीन काल में अत्यन्त सम्पन्न अवस्था में था। उनके कथनानुसार 'सुमात्रा के राजा स्वर्ण को जमा करने के लिए उसे सागर में फैंक देते थे।'

अलबरुनी के एक लेख में भी आया है कि— 'सुमात्रा की थोड़ी सी भी मिट्टी धोने से सोना प्राप्त हो जाता है।'

सातवीं शताब्दी के चीनी लेखों में सुमात्रा में पूर्व कालीन श्री विजय राज्य का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। इनके शासन काल में सुमात्रा सभ्यता और संस्कृति तथा विद्या का एक प्रमुख केन्द्र रहा है।

आठवीं शताब्दी में सुमात्रा शैलेन्द्रों के अधिकार में आया। उन्होंने अपने राज्य का विस्तार जावा और मलय तक किया था। उनके राज्यकाल में भी यहाँ भारतीय हिन्दू संस्कृति का अच्छा प्रभाव रहा।

सुमात्रा में शिव, विष्णु और बुद्ध की मूर्तियाँ साथ साथ ही मिलती हैं। इससे भी यह स्पष्ट है कि बौद्ध धर्म के प्रवेश से पूर्व यहाँ शैव और वैष्णव मतों का व्यापक प्रचार था।

इतिहासकार लोयब ने लिखा है कि 'सुमात्रा के प्राचीन निवासी लोगों ने धार्मिक विचार भारत से ही सीखे थे।'

इत्सिग ने भारत आते हुवे सुमात्रा में ही छः मास संस्कृत और पाली का अध्ययन किया था। इससे स्पष्ट है कि सातवीं शताब्दी में भारतीय विद्याओं के लिये सुमात्रा भी उतना ही प्रसिद्ध था जितना नालन्दा और विक्रम शिला।

यहाँ के हिन्दू राज्य का अन्त चौदहवीं शताब्दी में हुवा है।

बोर्नियो

बोर्नियो का प्राचीन नाम है— 'वरुण द्वीप'।

अनेकों प्राप्त शिला लेखों से यह ज्ञात होता है कि चौथी शताब्दी में यहाँ आर्य संस्कृति और सभ्यता का पूर्ण रूपेण विकास था। उस समय के, शुद्ध संस्कृत भाषा में लिखे, चार यूप-लेख भी अभी पिछले दिनों प्राप्त हुवे हैं जिनमें राजा मूल वर्मन की चर्चा है। उनमें से एक में राजा द्वारा भूमि दान, दूसरे में बहु सुवर्णक यज्ञ, तीसरे में विप्रकेश्वर नामक स्थान पर ब्राह्मणों को बीस हजार गायों के दान का उल्लेख है।

विप्रकेश्वर में भगवान शङ्कर का एक भव्य देवालय अभी भी विद्यमान है। यह देवालय चौथी शताब्दी में निर्मित हुवा था। इसके द्वार पर एक ओर गङ्गा और दूसरी ओर यमुना, गङ्गा-यमुना के नीचे घट, एक ओर नन्दी और दूसरी ओर चक्र के चिह्न बने हुवे हैं। बोर्नियो के प्रायः सभी प्राचीन नरेश शैव ही रहे हैं अतः अन्य द्वीपों की भाँति ही यहाँ भी बौद्ध-धर्म का अधिक प्रचार नहीं हो पाया है।

चीनी लेखों से ज्ञात होता है कि यहाँ के शासकों की उपाधि 'महाराज' थी। चौदहवीं शताब्दी तक उनका राज्य चलता रहा। ये लोग शुद्ध आर्य थे।

बोर्नियो की सबसे बड़ी नदी मूनी है जिसका पुरातन नाम वारुणी है। वारुणी के तट पर ही वरुण नगर था जो आज ब्रून के नाम से प्रसिद्ध है। वरुण नगर के ध्वंसावशेष अभी भी यहाँ मिलते हैं।

आज बोर्नियो मुस्लिम गणतंत्र इण्डोनेशिया का एक अङ्ग है किन्तु फिर भी वहाँ अनेक हिन्दू मन्दिर अभी भी अपना सर ऊँचा उठाये खड़े हैं। पर्वतों की कन्दराओं और खुले मैदानों में अनेकों शिव मन्दिरों के भग्नावशेष भी अभी तक वहाँ दीख पड़ते हैं। समुद्र के किनारे कोई चार सौ मील दूर एक स्थान पर उच्च श्रेणी की कारीगरी के कई मन्दिर हैं जिनमें हिन्दुओं के अनेक देवी-देवताओं की मूर्तियाँ विराजमान हैं। 'कोम बेङ्ग' की गुफा में शिव गणेश, नन्दी, अगस्त, ब्रह्मा, स्कन्ध और महाकाल की मूर्तियाँ पाई गई हैं।

बोर्नियो के निवासी प्रायः सभी मुसलमान भी अपने नाम हिन्दुओं के जैसे ही रखते हैं तथा अपने आपको राम, लक्ष्मण, भीम, अर्जुन आदि की ही संतान मानते हैं।

रामलीला का यहाँ भी प्रचार है। लोगों का विश्वास है कि रामायण की घटना उन्हीं के द्वीप में घटी है।

बाली

बाली बहुत छोटा सा द्वीप है किन्तु इसका अपना एक विशेष सांस्कृतिक महत्व है। कहते हैं कि 'बाली' नाम 'बलि' से निकला है। पुराणों में बामन-बलि की जो कथा है उसका पाताल देश यह बाली द्वीप ही बताया जाता है। विद्वानों का यह भी अनुमान है कि उस समय यह द्वीप भारत के साथ स्थल मार्ग से जुड़ा हुवा था किन्तु कालान्तर में बीच का भाग सागर में समा गया है।

चीनी लेखों के अनुसार यहाँ के प्राचीन शासक चार्याक क्षत्रिय

थे। उस समय यहाँ के निवासी कानों में कुण्डल पहनते थे और शस्त्रों में चक्र का प्रयोग भी करते थे।

नौवीं शताब्दी के एक ताम्र पत्र से ज्ञात होता है कि उन दिनों वहाँ के शासक उग्रसेन थे। दसवीं शताब्दी में जन साधु वर्म देव और उनकी महारानी श्री विजय महादेवी के नामों का भी उल्लेख मिलता है।

जमवरन नामक एक स्थान से खुदाई में गणपति की एक प्राचीन मूर्ति प्राप्त हुई है। इस मूर्ति के सिंहासन पर चारों ओर अग्नि की शिखाएँ दिखाई गई हैं। मृत राजाओं की भी जो मूर्तियाँ यहाँ खुदाई में प्राप्त हुई हैं उन सभी के दक्षिण दिशा में भी श्री गणेश की मूर्तियाँ निर्मित हैं।

बाली के निवासी अभी भी पूर्ण रूपेण वैदिक धर्म के अनुयाई हिन्दू ही हैं और वे अपने को 'बाली हिन्दू' ही कहते भी हैं। बाली की दस लाख जनसंख्या में केवल डेढ़ हजार व्यक्ति ही मुसलमान हैं, ईसाई तो कोई है ही नहीं।

बाली के हिन्दुओं में आज भी वर्ण व्यवस्था प्रचलित है। चारों वर्णों के नाम भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ही हैं। ब्राह्मण धर्म-गुरु होते हैं, उन्हें पण्डा (पेण्डा) भी कहा जाता है। आध्यात्मिक दृष्टि से वे चारों वर्णों में सर्व श्रेष्ठ माने जाते हैं। राज पुरोहित और राजगुरु भी ब्राह्मण ही होते हैं। वे दोनों ही वहाँ के नरेश को समस्त राजकार्यों में परामर्श देते हैं। बाली के निवासी इनका बड़ा सम्मान करते हैं। राजगुरु जब राजमार्ग से होकर निकलते हैं तब हजारों व्यक्ति खड़े होकर उन्हें श्रद्धा से प्रणाम

करते देखे जा सकते हैं। बाली में चारों वर्ण बड़े प्रेम से रहते हैं। वर्णों में विवाह का क्रम भी हिन्दू धर्म के अनुसार ही होता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य कन्या से विवाह कर सकता है किन्तु अन्य वर्णों की कन्याओं से उत्पन्न सन्तति का अधिकार ब्राह्मण कन्या की सन्तान से कुछ कम रहता है।

बाली निवासियों का धार्मिक जीवन कट्टर सनातन धर्मियों जैसा होता है। अधिकांश व्यक्ति शैव हैं और शिव लोक की प्राप्ति ही वे अपने जीवन का अन्तिम ध्येय मानते हैं किन्तु फिर भी वहाँ पंचदेवों की उपासना होती है। इस द्वीप में मन्दिर भी बहुत हैं। प्रत्येक गाँव अथवा नगर में ही नहीं किन्तु प्रायः प्रत्येक घर में ही मन्दिर होता है। विष्णु, शिव और गणपति वहाँ के मुख्य देवता हैं और उन सबके स्वरूप भी ठीक वैसे ही हैं जैसे भारत में पाये जाते हैं। देव वाहन गरुड़ तथा नन्दी की भी उपासना होती है। वहाँ के लोग प्रति दिन सूर्य को अर्घ्य देते हैं तथा मन्दिरों में पूजा बड़ी श्रद्धा के साथ करते हैं। पूजा को वे लोग 'परिक्रमा' कहते हैं। बालिकायें पूजा की सामग्री सरों पर सजा कर ले जाती हैं। पूजा की प्रत्येक विधि पर मंत्र बोले जाते हैं। अर्घ्यपात्र के ऊपर कमल रखना, हाथ जोड़ना, गंध अक्षत चढ़ाना, दीपक प्रज्वलित करना, आरती में शङ्ख तथा घण्टा बजाना, धूप जलाना आदि सारी क्रियायें पूजा में की जाती हैं। पूजा के पश्चात् सभी भक्त जन घुटनों के बल प्रणत होकर भगवान को धन्यवाद देते हैं तथा अञ्जलिबद्ध नमस्कार करते हैं। पुजारी सभी को चरणामृत बांटता है।

मन्दिर में पितृ जनों के लिये भी भोग लगाया जाता है और

उन पर पुष्प वर्षा की जाती है।

किसी भी मन्दिर में पूजा होती देख कर यही आभास होता है कि मानों दर्शक भारत के ही किसी मन्दिर में खड़ा है। कीर्तन के समय का वातावरण तो इतना भक्तिमय हो उठता है कि दर्शक सब कुछ भूल जाता है। कीर्तन करने वाली बालिकायें सर पर मुकुट बांधती हैं तथा माथे पर तिलक लगाती हैं।

बाली के अनेक त्यौहार भी भारतीय ही हैं। बसंत पर सरस्वती पूजा के समान ही बाली में 'गालंगन' महोत्सव पर पुस्तकों की पूजा की जाती है। इस दिन घरों में पुस्तकें सजा कर रक्खी जाती हैं तथा फूलों और पीले रङ्ग तथा सुगन्धित मसालों द्वारा तैयार किये गये चावलों द्वारा उनकी पूजा होती है। इस दिन लिखना पढ़ना भी मना होता है।

बाली हिन्दू के जीवन में गङ्गा जल का बड़ा महत्व है। उसके लिये गङ्गा जल पावन और पुण्य स्पर्शी होता है। वहाँ गङ्गा जल को 'तोय गङ्गा' कहते हैं। तोय शुद्ध संस्कृत शब्द है और इसका अर्थ जल ही होता है।

इतना ही नहीं बाली द्वीप की नदियों के नाम भी भारत की नदियों के नाम पर ही रक्खे गये हैं। उनके तटों पर तीर्थ स्थित हैं तथा मेले लगते हैं। बाली निवासी इन सभी नदियों की जलधाराओं को स्वर्ग का द्वार समझते हैं और अपनी पूजा में नित्य पढ़ते हैं—

गंगे च यमुने चैव गोदावरी सरस्वती।
नर्मदे सिंधु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु॥

चन्दन को बाली निवासियों के यहाँ पवित्र माना जाता है। होम में चन्दन के काष्ठ का प्रयोग होता है, चन्दन चूरा पूजा के काम आता है।

बाली निवासी आश्रम व्यवस्था को भी महत्व देते हैं। वृद्धावस्था में संन्यास लेकर कन्दराओं में ईश्वरोपासना के लिये चले जाने को वह उत्तम समझते हैं।

वहाँ के लोगों की अपनी भाषा है किन्तु उनकी पूजा पाठ की भाषा अभी भी संस्कृत ही है और वह देवनागरी लिपि में ही लिखी भी जाती है।

वहाँ के निवासी अपने को सूर्य तथा चन्द्र वंशी ही कहते हैं और अपने नाम भी प्रायः सूर्य तथा चन्द्र के नामों पर ही रखते हैं जैसे सूर्यसुत, रविसुत, चन्द्रसुत आदि।

राम और राम के चरित्र में बाली निवासियों की अटूट श्रद्धा है। वह राम की लीलायें भी करते हैं।

बाली द्वीप की राजधानी का नाम 'सिंधुराज' है। राजधानी के निकट ही एक विशाल देवालय है जिसमें ब्रह्मा, विष्णु और महेश की अनेक मूर्तियाँ विराजमान हैं।

वहाँ की शासन व्यवस्था पर भी भारतीय प्रभाव स्पष्टतया दीख पड़ता है।

सर स्टामफर्ड रेफिल्स ने लिखा है कि– 'बाली का शासन प्रबन्ध अभी तक हिन्दू शैली से ही होता है।'

बाली निवासियों का जीवन बड़ा पवित्र होता है। वे चोर नहीं होते और प्रायः अपने घरों में ताले नहीं लगाते। प्रत्येक भवन

के द्वार पर श्वेत हँस पर आरूढ़ ब्रह्मा के चित्र अङ्कित किये जाते हैं।

इनकी सामाजिक व्यवस्था भी पूर्ण रूपेण भारतीय ही है। प्रत्येक गांव में 'पुर-देश' अर्थात् ग्राम देवता का मन्दिर होता है और उसके निकट ही सभा भवन होता है जहाँ पंचायत आदि होती रहती हैं। गाँव के सामूहिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाले पवित्र कार्य इसी मन्दिर में किये जाते हैं तथा विवाह आदि मुख्य संस्कार भी इसी मन्दिर में होते हैं। मन्दिर के निकट ही गाँव का प्रधान रहता है। गाँव के बीचों-बीच बाजार लगता है। गाँव वाले अपने बचाव के लिये संघबद्ध रहते हैं। प्रत्येक गाँव में एक बरगद का पेड़ होता है जिसके नीचे नाटक और खेल आदि होते रहते हैं। त्यौहारों पर मेले भी लगते हैं।

खेती बाड़ी करने वाले लोग खेती की समृद्धि के लिये 'देवी श्री' की उपासना करते हैं। इस उपासना में मुसलमान किसान भी हिन्दू किसानों की भाँति ही सम्मिलित होते हैं।

बाली निवासी स्वर्ग नर्क, कर्म फल, आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म में भी विश्वास रखते हैं, तथा शव का दाह संस्कार करते हैं। दाह संस्कार भी शुभ मुहूर्त्त देख कर किया जाता है। मुहूर्त्त आने तक शव को सुरक्षित रक्खा जाता है। दाह संस्कार के पूर्व शव के स्नान के लिये पवित्र नदियों से जल लाने की व्यवस्था की जाती है। जल लाने के लिये जो व्यक्ति जाता है वह जल देवता की पूजा के लिये चाँदी के थालों में भोग के लिये फल-फूल ले जाता है। श्मशान में मृत व्यक्तियों के वर्णों के अनुसार पशुओं

एक पुजारी [बाली

अन्त्येष्टि संस्कार [बाली
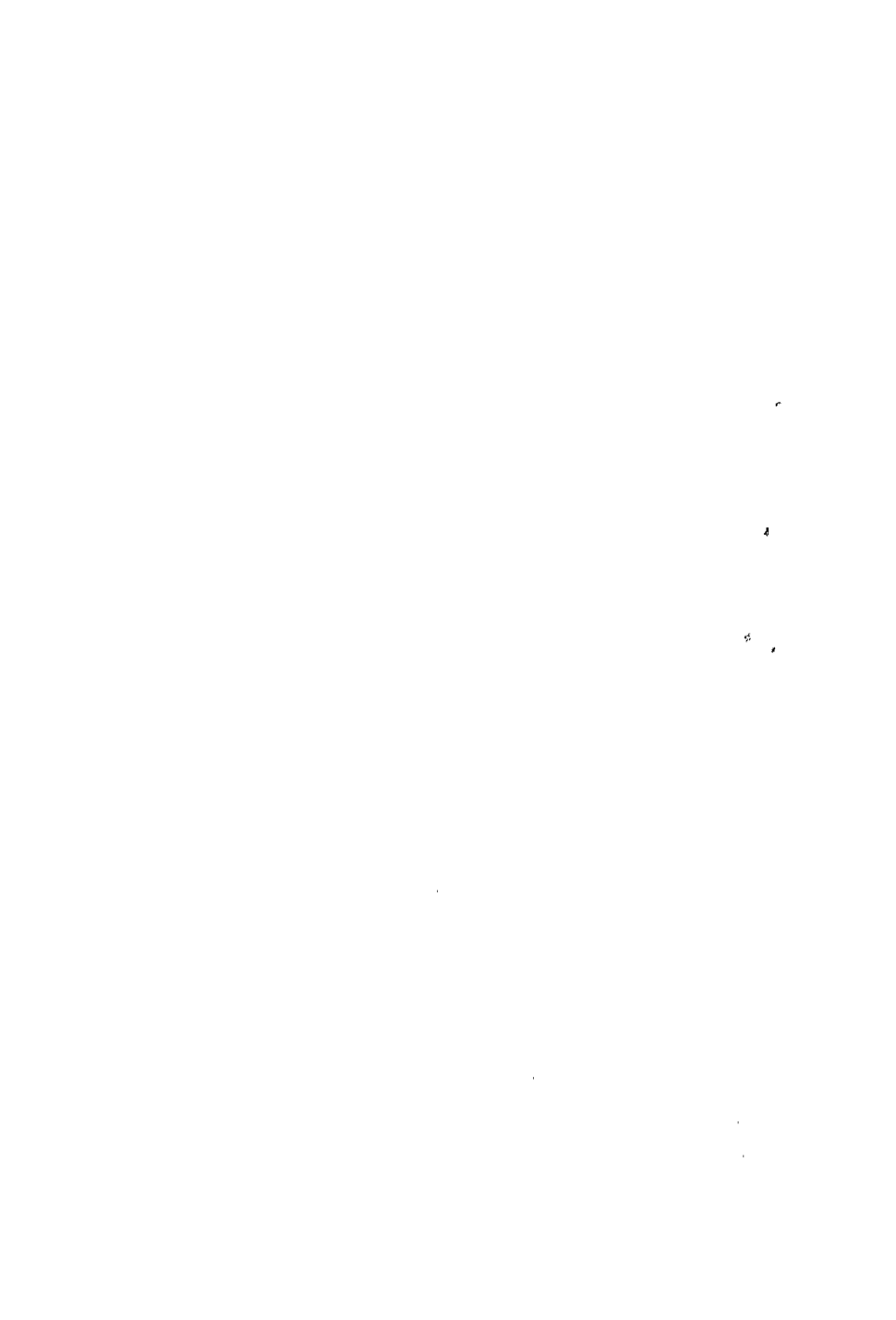
की मूर्तियाँ तय्यार रहती हैं। ब्राह्मण को गाय की मूर्ति में, क्षत्रियों को सिंह की मूर्ति में, वैश्य को एक पौराणिक पशु की मूर्ति में तथा शूद्र को मछली की मूर्ति में रख कर जलाया जाता है। दाह के १२ या ४२ दिन पश्चात् शव की भस्मी को नदियों में प्रवाहित कर दिया जाता है। इस बीच में भोजों का भी आयोजन रहता है। बाली में अंत्येष्टि शोक का दिवस नहीं समझा जाता, वहाँ के निवासी उसे आनन्द और उत्सव का दिन मानते हैं। अस्थि प्रवाहित कर देने के पश्चात् वे लोग गाते हुवे घर लौटते हैं।

बाली निवासी गाय को भी पूज्य दृष्टि से देखते हैं। वे न गौ मांस खाते हैं और न गौ चर्म का ही प्रयोग करते हैं। किसी किसी मन्दिर में तो देव प्रतिमाओं के साथ गाय की प्रतिमा भी पूजी जाती है।

बाली का संस्कृत साहित्य भी बहुत विशाल है। सन् १९२६ में एक डच पुरातत्व वेत्ता ने वहाँ के संस्कृत ग्रंथों की संख्या १०२५ बताई थी। यह साहित्य गत सैकड़ों वर्षों से वहाँ के पण्डों ने कण्ठाग्र कर रखा है और यही कारण है कि वे उसकी रक्षा भी कर सके हैं।

यहाँ चारों वेद प्रचलित हैं। 'बाल्मीकि रामायण' का अत्यधिक प्रचार है। वेदव्यास का महाभारत भी भारत के समान ही वहाँ प्रसिद्ध है। वहाँ महाभारत को 'पर्व' कहा जाता है। पिछले कुछ दिनों से बाली में गीता का प्रचार भी बढ़ रहा है।

मृत व्यक्तियों की आत्मा की शांति के लिए श्राद्ध भी किए जाते हैं। भारत के समान ही बाली में सती प्रथा भी रही है किन्तु अब वह

धीरे धीरे करके समाप्त हो चुकी है।

बाली में बहुत समय तक संस्कृत भाषा प्रचलित रही है और आज भी वहाँ की अपनी भाषा में संस्कृत शब्दों का बाहुल्य है।

शासन अधिकारियों के नाम प्रायः सभी संस्कृत-निष्ठ होते हैं जैसे अमात्य, अध्यक्ष, अधिमंत्री, आर्य, उपमंत्री, पुरोहित, मंत्री, महागुरु, युद्ध मंत्री, राजाध्यक्ष, राजाधिराज, वीर प्राण, वीर मण्डलिक, वीराधिकार, वृद्ध मंत्री इत्यादि।

बाली निवासियों की भावना है—

जगतां शिवमस्तु सदा गोद्विज राज्ञां तथा शिवस्तानां।
श्रुति भक्ति दान धर्मा भवंतु नाराति रागेर्ष्याः।।

अर्थात् संसार का कल्याण हो, साथ ही गाय, ब्राह्मण और शिव भक्तों का भी। विश्व में वेद, भक्ति, दान की भावना और धर्म फैले न कि शत्रु रागद्वेषादि।

स्वामी सदानन्द ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि 'हिंन्दू धर्म जिस पवित्रता के साथ बाली में जी रहा है वह पवित्रता अब भारत में भी उपलब्ध नहीं है।'

इण्डोनेशिया का नन्दन वन बाली हिन्दुत्व की सीमा स्तम्भ है। वहाँ का जीवन, धर्म, संस्कृति, भावना सभी कुछ भारतीय है, यदि कोई वस्तु नहीं है तो केवल भारत के विषय में बाली निवासियों का ज्ञान।

फिलीपाइन्स

फिलीपाइन्स एक द्वीप समूह है जिसमें छोटे बड़े हजारों द्वीप सम्मिलित हैं। अनेक खोजों के आधार पर अब यह प्रमाणित हो चुका है कि किसी समय यह द्वीप समूह भी हिन्दू सभ्यता और संस्कृति का प्रमुख केन्द्र रहा है।

विदेशी इतिहासकारों का कहना है कि इन द्वीपों का पता सबसे पहिले १५२१ ई० में केप्टिन फरडीनेण्ड ने ही लगाया है, अतः वह यहाँ के इससे पूर्व के इतिहास को 'इतिहास पूर्व' के नाम से ही पुकारते हैं किन्तु इसके यह अर्थ नहीं कि इससे पूर्व किसी को भी इन द्वीपों का पता ही न था। उससे पूर्व ये द्वीप वृहत्तर भारत के ही अपने अङ्ग थे, ऐसा भी अनेक इतिहासकारों ने प्रमाणित किया है।

फिलीपाइन्स विश्व विद्यालय के अमरीकी प्रोफेसर श्री एच० ऑटल बेयर ने उस देश में प्राप्त प्राचीन हिन्दू संस्कृति के अनेक अवशेषों का विशाल संग्रह किया है और उसके आधार पर ही उन्होंने लिखा है कि 'फिलीपाइन्स के प्राचीन आभूषणों तथा

रीति रिवाजों को देखते हुवे मेरा यह सुनिश्चित मत है कि यहाँ की संस्कृति का आदि स्रोत भारत ही रहा है।'

फिलीपाइन्स के प्राचीन निवासियों में दक्षिणी भारत के निवासियों का रक्त था और वे सभी दृष्टियों से भारतीयों के समान ही सभ्य और सुसंस्कृत भी थे। चार्ल्स ई० रसल ने अपनी पुस्तक 'आउटलुक फॉर दी फिलीपियन्स' में लिखा है कि— 'जिस काल में इङ्गलैण्ड के निवासी पशुओं के चर्म ओढ़ कर और अपने शरीरों को विभिन्न रंगों से रंग कर ही अपना जीवन व्यतीत कर रहे थे फिलीपाइन्स के निवासी रेशम और सूत से बने वस्त्र पहनते थे, मूल्यवान हीरों और जवाहरातों का उपयोग करते थे, घरों में रहते थे, स्वर्ण के आभूषण धारण करते थे, खेती करते थे, गेहूँ आदि अन्न उपजाते थे, पशु पालते थे तथा भोजन में फलों का भी उपयोग करते थे।'

इस विवरण से ही फिलीपाइन्स की प्राचीन संस्कृति पर एक अच्छा प्रकाश पड़ जाता है।

चान-जु-कुआ नाम के एक चीनी यात्री ने १२२५ ई० में एक पुस्तक लिखी है, जिसमें उसने स्पष्ट शब्दों में यह स्वीकार किया है कि 'उन दिनों इन द्वीपों पर पूर्णतया भारतीय संस्कृति की छाप लगी हुई थी।'

लगभग १५वीं शताब्दी में यहाँ इस्लाम ने प्रवेश किया। मुसलमानों ने तलवार के बल पर यहाँ की जनता और शासकों में इस्लाम का प्रचार किया किन्तु उसके कुछ ही दिनों पश्चात् यहाँ स्पेन के ईसाईयों ने अपना झण्डा फहरा दिया। मुसलमान

और ईसाईयों ने इस देश में जो कुछ भी पुरातन था उसे नष्ट कर डाला। उस समय, जैसा कि एल्सडन वेस्ट ने अपने ग्रंथ 'प्री हिस्टोरिक सिवीलिजेशन इन दी फिलीपाइन्स' में लिखा है– 'यहाँ के लोग सरों पर दक्षिणी भारतीयों के समान चोटी रखते थे, दुपट्टा बाँधते थे, सुगन्धित तेलों का प्रयोग करते थे, स्त्रियाँ सरों के केशों में मोतियों की लड़ी लटकाती थीं, कानों तथा अंगुलियों में स्वर्ण के आभूषण धारण करती थीं तथा बदन पर साड़ी के समान वस्त्र लपेटती थीं। उन दिनों फिलीपाइन्स में शवों का दाह संस्कार किया जाता था, कहीं कहीं सती प्रथा भी प्रचलित थी तथा पुनर्विवाह पूर्ण रूपेण वर्जित था। प्रत्येक नगर में एक मन्दिर होता था जिसमें अग्नि, सूर्य, चन्द्र आदि देवी देवताओं की पूजा होती थी।' इनके अतिरिक्त वहाँ के निवासी अनेक पशुओं, वृक्षों तथा पर्वतों की भी पूजा करते थे। ग्रहण का कारण वे राहू को ही मानते थे तथा दिन के पाँच विभाग भी महेश्वर, काली, श्री, ब्रह्मा तथा विष्णु के नाम पर ही करते थे। ये लोग बहुत ही शान्ति प्रिय थे। किसी मनुष्य को मारना पीटना तो दूर ये किसी पशु तक का भी शिकार न करते थे तथा वृक्षों में जीव मान कर उन्हें भी न काटते थे। उनके प्रायः सभी मन्दिरों में संस्कृत ग्रंथों के विशाल संग्रह रहते थे। अपने नरेश को ये लोग 'राजा' के नाम से ही सम्बोधित करते थे।

इन व्यक्तियों के इन्हीं रीति रिवाजों को देख कर उन द्वीपों पर आक्रमण करने वाले स्पेनिशों ने इन्हें भारतीय (Indio) कह कर ही पुकारा है। भारतीय का अर्थ उन दिनों हिन्दू ही होता था। जब इन आततायियों ने यहाँ अपना अधिकार किया तो उन्होंने

वहाँ के अतीत का सब कुछ नष्ट कर डाला। मन्दिर तोड़ दिये और उनमें संगृहीत विशाल संस्कृत साहित्य फूँक दिया और ऐसा करके इन स्पेनिशों ने बड़े गर्व का अनुभव किया। एक पादरी ने लिखा है कि 'स्वयं मैंने ही अपने हाथों से लगभग तीन सौ हस्तलिखित ग्रन्थ अग्नि के समर्पित किये हैं।'

किन्तु फिर भी मुसलमानों और ईसाईयों की विनाशकारी दृष्टि से जो कुछ भी बच रहा है, इतिहासकार हेरी के शब्दों में उससे भी 'यह स्पष्ट है कि फिलीपाइन्स के निवासी अपनी प्राचीन संस्कृति के लिये राष्ट्रों की माता भारत के ही ऋणी हैं।'

और आज भी जब कहीं फिलीपाइन्स में खुदाइयाँ होती हैं उस देश की प्राचीन संस्कृति पर प्रकाश डालने वाले अनेक चिह्न यत्र तत्र दीख जाते हैं। शिव, गणेश आदि हिन्दू देवताओं की तांबे, पीतल और कहीं-कहीं स्वर्ण की भी बनी अनेक मूर्तियाँ अनेक स्थानों से खुदाइयों में मिली हैं। कितने ही शिला लेख भी प्राप्त हुवे हैं जिनके आधार पर ही डा० सेलीबी ने लिखा है कि 'इस देश का भारत के साथ जो सम्बंध है वह वैदिक कालीन ही है।'

और आज भी फिलीपाइन्स में उन निवासियों में जो ईसाई नहीं हैं अनेक हिन्दू रीति-रिवाज प्रचलित हैं। वे धार्मिक उत्सवों पर जलूस निकालते हैं, गुरुजनों के आगे सर झुकाते हैं, उल्लू को अनिष्टकारक मानते हैं, ऋतुमति होने से पूर्व ही कन्या का विवाह कर देना श्रेष्ठ समझते हैं, ग्रह और नक्षत्रों के प्रभाव को स्वीकार करते हैं, पान खाते हैं तथा कमीज के समान ही तन पर वस्त्र पहनते हैं जिसे वह 'समीस' कहकर पुकारते हैं।

उनकी अनेक लोक गाथाओं में रामायण और महाभारत की विभिन्न कथाओं का समावेश है। उनकी भाषा 'तैनलॉग' में संस्कृत शब्दों का बाहुल्य है। उदाहरण के लिये वह अन्तर को अन्तल, आशा को आसा, वंशी को बंगी, मनुष्य को मनुसिया, मोक्ष को मुकस, कोप को कोस, वाणी को वानी, चन्दन को सन्दन तथा चिंता को सिंता कहते हैं।

वहाँ की राजसभा में कानून के निर्माता के रूप में आज भी मनु का ही चित्र लगा हुवा है।

इस प्रकार केवल धर्म ही नहीं किन्तु वहाँ के सामाजिक तथा राजनैतिक क्षेत्रों पर भी हिन्दू प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है।

प्रो० क्रोवर ने अपनी पुस्तक 'पीपिल्स आफ दी फिलीपाइन्स' में सत्य ही लिखा है कि 'फिलीपाइन्स में रहने वाली प्रत्येक जाति के धार्मिक विचार, रीति रिवाज, नाम, शब्द, लेखन शैली, कला कौशल, सभी पर भारतीय प्रभाव है जो आज भी स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।'

जापान

जापान सूर्योदय का देश कहा जाता है। वहाँ के शासक अपने को सूर्य का पुत्र मानते हैं तथा जनता में भी सूर्य की उपासना मुख्य है। जापान निवासी सूर्य को एक देवी के रूप में पूजते हैं।

जापान के प्रसिद्ध विद्वान टाका कासु ने 'जर्नल आफ दी ऐशियाटिक सोसाइटी' में लिखा था कि 'प्राचीन समय में भारद्वाज नाम के एक साधु जापान आये थे। उनसे ही जापानियों ने संस्कृत पढ़ी। उस ब्राह्मण साधु ने यहाँ एक मठ का भी निर्माण किया था जो आज भी वहाँ विद्यमान है।'

जापान में जो जाति वहाँ की मूल निवासी कही जाती है उसका नाम ऐन्यू है। ऐन्यू लोग आज भी प्राचीन आर्य ऋषियों के भेष में ही रहते हैं। वे दाढ़ी और केश नहीं कटाते। आज कल भी उनको 'हेयरी मेन' अर्थात् 'बालों वाले लोग' कहा जाता है।

जापान ईसा की छठी शताब्दी में यशोधर्म के समय बौद्ध-धर्म का अनुयायी बना। उससे पूर्व वहाँ का जन-धर्म 'शिन्तो' था और उससे पहिले 'हिन्दू'।

शिन्तो धर्म पर भी हिन्दू धर्म का पूर्ण प्रभाव था। उसमें पितृ-पूजन को मुख्य स्थान प्राप्त था। अश्वमेध के प्रकार का एक यज्ञ भी उसके अनुयाइयों में प्रचलित था।

आज भी जापान की सभ्यता और संस्कृति पर भारतीयता और हिंदू धर्म की गहरी छाप है। वर्ण व्यवस्था मानी जाती है किन्तु वर्ण चार के स्थान पर तीन हैं— सिनवेत्सु (देव पुत्र अर्थात् ब्राह्मण), वक्त्सोवेत्सु (राज पुत्र अर्थात् क्षत्रिय) तथा वेनवत्सु (विदेशी)।

जापान में गणेश की उपासना भी होती है। जापानियों के विश्वास के अनुसार मूली गणेश जी को अति प्रिय है। खुदाई में प्राप्त एक प्राचीन गणेश मूर्ति के हाथों में मूली दिखाई गई है।

अग्नि की पूजा भी होती है। प्रधान-देवालय 'ईसी मन्दिर' में अरणी द्वारा ही अग्नि उत्पन्न की जाती है।

जापान में स्वास्तिक को शुभ प्रतीक माना जाता है। वहाँ के निवासी बुद्ध की प्रतिमाओं पर भी इसका अङ्कन करते हैं। जापान के पवित्र पहाड़ फ्यूजीयामा के शृङ्ग पर पहुंचने पर यात्री को ऐसे घड़ों का जल पीने के लिये दिया जाता है जिन पर स्वास्तिक के चिन्ह बने रहते हैं। यह जल दीर्घायु देने वाला समझा जाता है।

सरस्वती की पूजा जापान में 'बैन्टन' के नाम से होती है। देवी बैन्टन के एक हाथ में वीणा तथा एक हाथ में पुस्तक होती है। बैन्टन-पूजा का उत्सव जापान में प्रति वर्ष बड़े समारोह के साथ मनाया जाता है और उसे बच्चों का त्यौहार माना जाता है।

जापान के मन्दिरों का भी हिन्दू-मन्दिरों से बड़ा साम्य है। मन्दिर के द्वार पर द्वारपालों की मूर्तियाँ बनाई जाती हैं। मन्दिर के

दोनों ओर चढ़ावे की, खिलौनों की तथा इसी प्रकार की अन्य दुकानें होती हैं। व्यक्ति दुकानों से चने खरीद कर कबूतरों को खिलाते हैं। मन्दिरों में जाकर लोग हाथ जोड़ कर साष्टाङ्ग दण्डवत प्रणाम करते हैं।

जापानियों का रहन-सहन भी हिन्दुओं से बहुत कुछ मिलता जुलता है। वे लोग मन्दिरों अथवा भोजनालयों में ही नहीं किन्तु घरों तक में जूते पहिन कर नहीं घुसते। जूते बाहर उतार कर रबड़ के सलीपर अथवा काठ के खड़ाऊँ पहन कर ही अन्दर जाते हैं।

जापानियों के मकानों में प्रायः मेज कुर्सी नहीं होतीं। फर्श पर गद्देदार चटाइयों पर ही बैठने की प्रथा है। लोग पालथी मारकर ही बैठते हैं।

वस्त्र भी यद्यपि पुरुषों के तो बदल गये हैं किन्तु स्त्रियों के अभी भी प्राचीन शैली के ही हैं। स्त्रियों का पहनावा प्रायः भारतीय महिलाओं के जैसा ही होता है। 'किमोन' उनकी सुन्दर पोशाक है जिसकी बनावट साड़ी, लहंगा और चोली का सम्मिश्रण होता है। वे सर पर लम्बे बाल रखती हैं और जूड़ा बांधती हैं। टोकियो की सड़कों पर बालों की काट-छाँट कराये एक भी युवती नहीं दीख पड़ती।

जापानियों के खानपान का ढंग भी भारतीयों के जैसा ही है। प्रातः ७ बजे कलेवा, दोपहर १२ बजे तक मध्याह्न भोजन की समाप्ति तथा रात्रि को ८ बजे रात्रि का भोजन। महिलायें चूल्हे के पास बैठकर भोजन गरम-गरम तैयार करके ही खिलाती हैं। उनका सामान्य भोजन भी भारतीयों के समान प्रायः चावल ही होता है।

जापान की विचारधारा तथा सामाजिक व्यवस्था भी बहुत कुछ अंशों में भारत से ही मिलती है।

विवाह उभय पक्ष के परिवारों के मित्रों द्वारा ही निश्चित किया जाता है। कन्या को विवाह के पूर्व पिता की तथा विवाह के पश्चात् पति की संरक्षता में रहना पड़ता है। विवाह के बाद विवाहित जीवन की पवित्रता की ओर वहाँ विशेष ध्यान रक्खा जाता है। वंश परम्परा पुरुष से चलती है। गोद लेने की भी प्रथा है।

कर्तव्य पालन की भावना और स्वामि-भक्ति भी प्रत्येक जापानी में भरपूर मात्रा में रहती है।

मरने के पश्चात् शव को स्नान कराया जाता है तथा उसका अग्नि-संस्कार कर दिया जाता है। अन्त्येष्टि के समय जो प्रार्थनायें पढ़ी जाती हैं इनका आशय है कि 'मृत व्यक्ति सकुशल परलोक यात्रा करे।' मरने के पश्चात् सात सप्ताह तक पुरोहित आकर सूत्र पाठ करता है।

जापान की भाषा यद्यपि अपनी निजी है किन्तु फिर भी संसार में संस्कृत पढ़ने वालों की संख्या भारत के पश्चात् सबसे अधिक जापान में ही है। जापान की वर्णमाला का आविष्कार भी संस्कृत के ही आधार पर हुवा है।

भारत के पितृ पक्ष के समान ही जापान में अगस्त-सितम्बर मास में तीन दिन पितरों का आवाहन-उत्सव मनाया जाता है। इन दिनों जापानी अपने नगरों तथा ग्रामों में ही नहीं घर-घर में दीप जलाकर पितरों का मार्ग प्रदर्शन करते हैं। अपने-अपने घरों में मृतात्माओं के लिये भांति-भांति के भोजन मेज पर सजाते हैं,

उनके बैठने के लिये विशेष आसनों का प्रबंध करते हैं और फिर कमरा बंद कर अपने पास-पड़ौस के घरों में वहाँ की मृतात्माओं को श्रद्धाञ्जली अर्पित करने के लिये बाहर चले जाते हैं। दो दिन पश्चात् फिर पितृ-विसर्जन की क्रिया करते हैं। अन्तिम दिन छोटी-छोटी नावों में भोजन सामग्री रखकर उन्हें नदी में छोड़ देने की भी प्रथा है जिससे मृतात्माओं को अपने-अपने लोकों में भोजन मिलता रहे।

इस प्रकार बौद्ध होते हुवे भी जापान पर हिन्दू संस्कृति और सभ्यता का प्रभाव अभी भी अक्षुण्ण रूप से विद्यमान दीख पड़ता है।

चीन

साम्यवादी चीन के भारत स्थित राजदूत जनरल यांग ने अपने भारत पदार्पण पर कहा था कि— 'चीन और भारत की जनता में अत्यन्त प्राचीनकाल से ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध चले आ रहे हैं।' और उनका यह कथन सर्वथा सत्य ही था। सर विल्सन के अनुसार तो— 'चीन के निवासी महान आर्य जाति के ही एक अङ्ग हैं।' राजस्थान के इतिहासकार टाड हंटर ने लिखा है कि— 'मुगल, तातार और चीनी चंद्रवंशी क्षत्रिय हैं। इनमें से तातार अपने को 'अय' वंश का कहते हैं जो कि पुरूरवा का पुत्र आयु है। आयु के वंश में ही आगे चल कर यदु हुवे और यदु के पुत्र 'हय'। चीनी लोग इन्हीं 'हय' को 'हु' के नाम से अपना पूर्वज मानते हैं। इस प्रकार चीनियों का चंद्रवंशी क्षत्रिय होना सिद्ध है।'

चीनियों के आदि पुरुष के विषय में प्रसिद्ध चीनी विद्वान यांगत्साई ने सन् १५५८ में एक ग्रन्थ लिखा था। उसमें उन्होंने स्पष्टतया यह स्वीकार किया है कि—'अत्यन्त प्राचीन काल में भारत से आह यू नाम का एक राजकुमार यहाँ आया था। उसके नौ पुत्र

थे। उन्हीं के सन्तति विस्तार से समस्त चीनियों की वंश वृद्धि हुई है।'

भारत के प्राचीन इतिहास में भी चीन का नामोल्लेख अनेक स्थलों पर हुवा है। महाभारत (उद्योग-पर्व) के एक रथ के वर्णन में चीनी घोड़ों का उल्लेख भी आया है।

वाल्मीकि रामायण के किष्किंधाकाण्ड में लिखा है कि जब सुग्रीव ने बानरों को भगवति सीता की खोज का आदेश दिया तब उन्होंने उनसे चीन जाने के लिये भी कहा था।

विष्णु पुराण और महाभारत में भी चीन का उल्लेख आया है। महाभारत के भीषण संग्राम में कौरवों की ओर से चीन के शासक स्वयं अपनी सेना सहित सम्मिलित हुवे थे। इसके अतिरिक्त अर्जुन ने जब आसाम पर चढ़ाई की थी तो वहाँ के तत्कालीन नरेश की सेना में भी चीनी सैनिक सम्मिलित थे ऐसा लिखा है।

महाभारत के वन पर्व में लिखा है कि युधिष्ठिर ने अपने यज्ञ में आमंत्रित चीनियों को भोजन परोसने का कार्य सौंपा था। कालीदास ने रघुवंश में लिखा है कि सम्राट रघु ने अपनी दिग्विजय में चीन नरेश को भी अपना करद बनाया था। कौटिल्य ने अपने अर्थ-शास्त्र में चीन के रेशम की प्रशंसा की है। अनेक पुराणों में भी चीनी शुक का मुग्ध वर्णन है। कालीदास तथा अन्य संस्कृत कवियों के काव्य में जहाँ पर भी राजसी वेष-भूषा का वर्णन है वहीं पर 'अग्नि प्रभा स्वच्छ चीना शुक' का उल्लेख आया है। पंचतन्त्र की अनेक कथाओं में भी चीन का वर्णन है। सर स्टाइन को चीन में एक रेशम की गाँठ के प्राचीन अवशेष मिले हैं जिस पर मूल्य आदि

ब्राह्मी लिपि में लिखा हुवा है। सम्भवतः यह गाँठ भारत को आने वाली थी। मनु ने चीन के निवासियों को आचार भ्रष्ट क्षत्रिय कहा है।

ईसा से ५०० वर्ष पूर्व चीन में ताओ मत का प्रचार था। ताओ मत की विचार धारा बहुत कुछ अन्शों में भारतीय रहस्यवाद से मिलती जुलती ही है। इस मत के प्रधान धर्म ग्रन्थ 'यी किङ्ग' की रचना ईसा से ३४६८ वर्ष पूर्व की कही जाती है। इस ग्रन्थ में स्थान स्थान पर संस्कृत शब्दों का प्रयोग हुवा है।

उसी काल के लगभग चीन में कन्फ्यूशस मत का प्रचार हुवा। इस धर्म के अनेक उपदेशों पर वैदिक धर्म का स्पष्ट प्रभाव दीख पड़ता है। इसमें प्रवृत्ति-मार्ग पर विशेष बल दिया गया है और पितरों का पूजन तथा उनमें श्रद्धा को मुख्य उपासना बतलाया गया है।

इतिहासकार सुलेमान ने लिखा है कि 'चीन की धार्मिक बातें आर्य धर्म से ही ली गई हैं। भारत ही चीन का धार्मिक गुरु है।'

महाभारत की बहुत सी कथाएँ चीन की प्राचीन लोक गाथाओं के भाव, भाषा और सुर में पाई जाती हैं। शिवि का उपाख्यान, मत्स्य गंधा का जन्म, कल्माषपाद की कथा इत्यादि चीन की लोक कथाओं में अत्यन्त प्रिय हैं। यद्यपि इन सब भारतीय कथाओं को चीनियों ने अपने देश के वातावरण में बदल लिया है फिर भी उनके भारतीय उद्गम स्थल का पता स्पष्ट रूप से प्रतीत हो जाता है।

'अर्जुन' का इस विशाल प्रदेश की संस्कृति से विशेष सम्बंध

रहा है। वह इस ओर के अनेक राजवंशों के प्रवर्तक माने गये हैं और उनके नाम पर ही अनगिनत राजाओं का नामकरण हुवा है।

कारा शहर के प्रथम ऐतिहासिक शासक का नाम चीनी ग्रन्थों में 'शोअन' आया है, यह अर्जुन का ही रूपान्तर है।

डा० ल्यूडर्स ने इस प्रदेश से एक संस्कृत ग्रंथ प्राप्त किया है। उसमें भी एक राजा इन्द्रार्जुन का उल्लेख है।

ईसवी सन् ६७ में सम्राट मिङ्-ती के राज्यकाल में उनके निमन्त्रण पर भारतीय विद्वान काश्यप मातंग चीन गये थे और वहीं 'लो' नदी के तट पर लोयंग नामक प्रांत में रहने लगे थे। आकाकारा ने लिखा है कि इन दिनों चीन के केवल इस भाग में ही दस हजार भारतीय आर्य परिवार रहते थे। उनके साथ ही तीन हजार भारतीय साधु भी थे, जो स्थायी रूप से वहीं रह कर आर्य धर्म और संस्कृति का प्रचार किया करते थे।

चीन की प्रसिद्ध दीवार के परे गोबी रेगिस्तान में स्थित 'तुनहु-आं' गुफाओं में सूर्य, चन्द्र, कामदेव तथा गणेश की अनेक प्रतिमायें प्राप्त हुई हैं। ये मूर्तियाँ ५८८ ई० में निर्मित हुई हैं ऐसा उन पर उल्लेख भी है। गुफाओं के मुख्य द्वारों पर संस्कृत के लेख भी पर्याप्त संख्या में पाये जाते हैं।

अनेक अन्वेषकों ने चीन के विभिन्न भागों में भारतीय वस्त्र तथा यज्ञोपवीत धारण किये हुवे ब्राह्मण योगियों के चित्र भी प्राप्त किये हैं।

चीन में भारत के समान ही स्वास्तिक को भी अत्यन्त महत्व प्रदान किया जाता है। वहाँ स्वास्तिक को कल्याण, दीर्घायु तथा

प्रकाश का प्रतीक माना जाता है। कम से कम एक हज़ार वर्ष पूर्व से वहाँ स्वास्तिक की सूर्य के रूप में उपासना होती है। चीनियों की मान्यता है कि आकाश में विशेष तारों के परस्पर मिलने पर स्वास्तिक के आकार का एक चित्र नित्य ही बनता है।

छठी शताब्दी से दसवीं शताब्दी तक चीन में भारतीय संगीत बहुत लोकप्रिय रहा है। चीनी गायकों ने भारतीय स्वरों, रसों और वाद्यवादन शैली को अपनाया है। भारतीय संगीतज्ञों को वहाँ सदैव ही राजदरबार में सम्माननीय पद मिलते रहे हैं। सन् ५८१ ई० में तत्कालीन चीन सम्राट ने भारतीय गायक, वादक तथा नृत्यकारों का एक दल अपने देश में निमंत्रित किया था। इस दल के कलाकारों की वेश-भूषा और वाद्य यंत्रों का यथा-तथ्य वर्णन उस समय के चीनी ग्रन्थों में दिया हुवा है, किन्तु उससे भी पूर्व भारत के एक सुदक्ष वीणावादक सुजीव चीन गये थे ऐसा भी उल्लेख वहाँ के प्राचीन साहित्य में प्राप्त हुवा है। भारतीय नृत्य भी चीन में बहुत जनप्रिय रहा है। शान्ति नृत्य, पंचसिंह नृत्य आदि अनेक नृत्यों के नाम चीन के संगीत ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं।

भारतीय ज्योतिष शास्त्र और गणित शास्त्र की भी अनेकों पुस्तकें चीनी में अनूदित हुई हैं। छठी शताब्दी में काशी के एक हिन्दू ज्योतिषी चीन के छात्रों को ज्योतिष सिखाने के लिये वहाँ गये थे, उनका नाम था गौतम प्रज्ञारुचि। यह ब्राह्मण वहीं स्थाई रूप से रहने लगे थे।

सातवीं शताब्दी में एक भारतीय चिकित्सक नारायण स्वामी भी चीन सम्राट के अनुरोध पर वहाँ गये थे। उनकी प्रतिभा से

प्रभावित होकर वहाँ अनेक भारतीय वैद्यक शास्त्र के अनुवाद भी चीनी भाषा में किये गये थे जो आज भी मिलते हैं।

भारतीय संस्कृति की अन्तर्राष्ट्रीय एकेडेमी के डायरेक्टर डा० रघुवीर अभी पिछले दिनों चीन गये थे। वहाँ से वह ऐसे साहित्य का एक विशाल संग्रह अपने साथ लाये हैं जो चीन, मंगोलिया तथा मंचूरिया के साथ भारत के प्राचीन गठजोड़ का प्रमाण देता है।

भारतीय और चीनी दोनों ही बहुत काल से जल और थल दोनों ही मार्गों से एक दूसरे के देशों में आते जाते रहे हैं। थल के मार्ग से गोबी का रेगिस्तान तथा मध्य एशिया के पहाड़ों और मैदानों को पार करते हुवे और हिमालय की ऊँची ऊँची चोटियों को लांघते हुवे ये लोग एक दूसरे देशों में आते जाते थे और जल मार्ग से हिन्द चीन, जावा, सुमात्रा, मलय द्वापुओं से होकर जाते थे। पं० जवाहर लाल नेहरू ने अपने ग्रन्थ 'भारत की खोज' में लिखा है कि 'उन दिनों भारतीय संस्कृति सारे मध्य एशिया और इन्डोनेशिया के भागों में फैली हुई थी' अतः भारत और चीन के यात्रियों का जल और थल दोनों ही मार्गों से सर्वत्र स्वागत होता था और उन्हें आदर पूर्वक ठहराया जाता था। चीन के निवासी प्रायः इन्डोनेशिया के किसी द्वीप में कुछ महीने ठहर कर संस्कृत पढ़ते थे और फिर भारत आया करते थे।'

और इस आनेजाने में चीन ने भारत से बहुत कुछ सीखा था। वहाँ की तिथियों के पुनर्निर्माण में भारत ने ही सबसे महत्वपूर्ण सहयोग उस देश को दिया था।

चीन की धर्म मर्यादा और सभ्यता पर आज भी आर्य संस्कृति का प्रभाव है। 'दि बर्थ आफ चाइना' में डाक्टर क्रील के कथनानुसार 'चीन के रीति रिवाजों तथा उपासनाओं में वैदिक प्रतीकों तथा यज्ञों की झलक स्पष्ट है।'

चीन के सभा भवनों, मन्दिरों आदि पर भी भारतीय शिल्प का तथा वहाँ के त्यौहारों पर भारतीय संस्कृति का स्पष्ट प्रभाव दीख पड़ता है। भारत के ही समान दीपमाला के उत्सव पर वहाँ भी घरों की सफाई की जाती है, उन्हें रंगबिरंगे कागज के फूलों से सजाया जाता है, द्वारों पर 'लाभ शुभ' 'धनधान्य बढ़े' 'सुखसम्पदा प्राप्त हो' आदि वाक्य लगाये जाते हैं तथा दीपकों का प्रकाश किया जाता है। व्यापारी लोग चालू वर्ष का हिसाब चुकता करके नया बहीखाता प्रारम्भ करते हैं।

ऐसा ही अन्य उत्सवों के विषय में भी है।

यदि गहराई से देखा जाये तो चीन आज भी आर्य संस्कृति का अनुयाई ही दीख पड़ेगा। नेहरूजी ने अपनी 'हिन्दुस्तान की कहानी' में लिखा है कि 'चीन ने हिन्दुस्तान से बहुत कुछ लिया है, किन्तु उसमें सदा ही ऐसी शक्ति और आत्म विश्वास रहे हैं कि जो कुछ भी वह लेता है उसे अपने ढंग, अपने यहाँ की जिन्दगी और तानेबाने में कहीं न कहीं ठीक-ठीक बैठा लेता है।'

अतः स्पष्ट है कि चीन की आज की संस्कृति चीनी ढांचे में ढली हुई वही पुरानी आर्य संस्कृति है जिसका वह अनन्तकाल से अनुयाई रहा है।

अफगानिस्तान

वेदों और अवस्ताओं में इस बात के अनेक पुष्ट प्रमाण मिलते हैं कि प्राचीन अफगानिस्तान में कभी आर्यों का ही एक परिवार बसता था और वहाँ के राजा भी आर्य ही थे। महाभारत के कौरवों की माता गांधारी इसी देश के एक राज्य गांधार से आई थीं। गांधार को आज कंधार कहते हैं। अपनी दिग्विजय यात्रा में पांडव यहाँ के नरेश के अतिथि रहे थे। कंधार के पास गजसिंह द्वारा प्रतिष्ठापित गजनी नगर भी अभी तक विद्यमान है।

प्रतिष्ठान के चंद्रवंशी क्षत्रियों ने ही यहाँ सबसे पहिले प्रजातन्त्रात्मक गणराज्य की स्थापना की थी। गणराज्य के निवासी ही 'गण' थे जिन्हें पांडवों ने विजित किया था। 'गणान् उत्सवसंकेतान् दस्यून् पर्वतवासिनः। अजयन् सप्त पाण्डवाः' अर्थात् इन पर्वतवासी सप्तगणों को पाण्डवों ने जीता। इन्हीं गणों ने आगे चल कर 'उपगण' या 'अपगण' राज्य की स्थापना की। अपगण से ही 'अफगन' शब्द की उत्पत्ति हुई है। अतः अफगानिस्तान का सूक्ष्म रूप 'उपगण-स्थान' ही समझा जा सकता है।

प्रसिद्ध फ्रान्सीसी विद्वान जेम्स दार्मेस्टेलर ने लिखा है कि 'काबुल कन्धार के सीमा प्रान्तों में ईसा के पूर्व और पश्चात् की दो शताब्दियों में हिन्दु सभ्यता और संस्कृति का विस्तार था और ये इलाके उस समय 'श्वेत भारत' के नाम से ही जाने जाते थे। मुसलमानों की विजय तक यह भू-भाग ईरानी की अपेक्षा भारतीय ही अधिक था।'

अफगानिस्तान हजारों वर्ष तक हिन्दू संस्कृति और सभ्यता का एक प्रमुख केन्द्र तथा भारत का एक अभिन्न अङ्ग रहा है। फ्रांसीसी पुरातत्व विशेषज्ञों ने यहाँ की इतिहासकाल से पूर्व की स्थिति का ज्ञान प्राप्त करने के लिये कन्धार के निकट ही खुदाई का कार्य किया था। वहाँ से जो वस्तुएं उन्हें प्राप्त हुई हैं उनसे अफगानिस्तान और भारत की सांस्कृतिक एकता पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

इसके अतिरिक्त अफगानिस्तान में यत्र तत्र कितने ही नगरों में भारतीय कला के अवशेष भी बड़ी संख्या में मिलते हैं। काबुल से उत्तर में तीस मील दूरी पर एक स्थान है बामिया। भारतीय इतिहासकारों ने इसे एलोरा, अजन्ता और नालन्दा की श्रेणी में रक्खा है। यहाँ बुद्ध की भी अनेक विशाल पाषाण प्रतिमायें हैं। एक प्रतिमा तो चट्टान काट कर १५६ फुट ऊँची बनाई गई है। शोटारक में भी एक बौद्ध स्तूप था, वहाँ अभी तक भी अनेक बौद्ध मूर्तियाँ विद्यमान हैं।

अफगानिस्तान के एक भाग बलख का वर्णन करते हुवे दशवीं शताब्दि के एक अरब लेखक ने लिखा था कि— 'यहीं पर वह मन्दिर था जिसको नौबहार कहा जाता था और जो सभी अन्य

मन्दिरों से महान था। इस मन्दिर में अनेक देवताओं की मूर्तियाँ थीं। उन्हें रेशम और जवाहरातों से सजाया जाता था। फारस और तुर्क के निवासी इस मन्दिर के उपासक थे, वे वहाँ आकर मूर्तियों के दर्शन करते थे और उन पर भाँति भाँति की भेंटें चढ़ाते थे। भारत और चीन के राजा लोग भी यहाँ आ कर इस मन्दिर की देव मूर्तियों के सामने सिर झुकाते थे।'

उसी काल के एक दूसरे यात्री ने भी लिखा है कि— 'इस मन्दिर में ३६० कमरे थे जिनमें पुजारी लोग रहते थे। भारत, चीन और काबुल के नरेश प्रायः यहाँ आते रहते थे और मन्दिर के शिखर पर झण्डे फहराते थे।'

ग्यारहवीं शताब्दि तक यहाँ भारतीय हिन्दू राजाओं का ही आधिपत्य रहा। जयपाल काबुल के अन्तिम हिन्दू नरेश थे।

अशोक के शासनकाल में यहाँ बौद्ध-धर्म ने भी प्रवेश किया था किन्तु जब तुर्की के एक गुलाम सुबुक्तगीन ने काबुल के दक्षिण-वर्ती गज़नी में अपना राज्य स्थापित किया तो वहाँ तीव्र गति से इस्लाम का प्रचार प्रारम्भ हो गया और उसी के परिणाम स्वरूप आज अफगानिस्तान एक मुस्लिम राज्य है।

मुसलमान शासकों ने इस देश में इस्लाम का प्रचार करने के लिये यहाँ की हिन्दू जनता पर बड़े बड़े अत्याचार किये किन्तु फिर भी काबुल से चित्राल तक जो पाँच हजार वर्ग मील का भू-भाग है उसके निवासियों को वह अपने धर्म में दीक्षित न कर सके। वहाँ के व्यक्तियों ने अनेक अत्याचारों को सहन करते हुये भी अपने पूर्वजों के धर्म को नहीं छोड़ा।

अफगानिस्तान के मुसलमान आज भी इस प्रदेश को 'काफिरिस्तान' और यहाँ के निवासियों को 'काफिर' के नाम से ही पुकारते हैं। किन्तु वे लोग अपने देश को कलाश (कैलाश) कहते हैं और 'गीस' नाम से गिरीश शङ्कर की ही उपासना करते हैं। अपने उपास्यदेव गीस को वे लोग वीरता और शत्रु के विनाश का प्रतीक मानते हैं। कलास के सभी निवासी आज भी शिखा रखते हैं तथा स्वच्छता के बड़े प्रेमी हैं।

इतिहासकार ब्रेलो और ट्रम्ब का कहना है कि—'सब ओर से मुसलमानों द्वारा घिरे रहने पर भी ये काफिर हिन्दू ही हैं और अपने प्राचीन हिन्दू धर्म के प्रति इनके हृदयों में अभी भी प्रेम है।'

ये व्यक्ति विदेशी यात्रियों को अपने देश से होकर नहीं गुजरने देते। उन्हें जान से मार डालते हैं। किन्तु यदि कोई शिखाधारी उधर जाता है तो उसके साथ वे लोग बड़ी शिष्टता का व्यवहार करते हैं।

आज कल ये लोग अपना शासन गणतंत्र अथवा लोकतंत्र की प्रणाली से चलाते हैं। हमारे यहाँ प्राचीन भारत में गणतंत्र के नायक के लिये गणपति, जेष्ठपति, जेष्ठराज आदि शब्दों का प्रयोग होता रहा है, ये व्यक्ति भी अपने नेता को जेस्त (जेष्ठ) कहते हैं।

इनकी भाषा में भी अनेक वैदिक शब्दों का समावेश है। वैदिक भाषा में पिता को तता और माता को नना कहते हैं और ये लोग पिता को तत और माता को नन के नाम से पुकारते हैं। पुत्र को इनकी भाषा में पुट्र कहा जाता है। इसी प्रकार और भी अनेक वैदिक शब्दों का प्रयोग ये अपनी भाषा में करते हैं।

ईरान

ईरान का प्राचीन नाम है– 'आर्याना' अर्थात् आर्यों का देश।

आज के पश्चिमी पंजाब और पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त का प्राचीन नाम मद्र था। यहाँ के शासक पर्शु वंशज थे। कहा जाता है कि यहीं के राजपुत्र वर्तमान बलूचिस्तान के मार्ग से ईरान पहुंचे थे और वहाँ उन्होंने एक महान साम्राज्य का संगठन किया था। इस राज्य का नाम उन्होंने मद्र ही रक्खा था। इसी मद्र साम्राज्य को ग्रीक इतिहासकारों ने 'मीडियन साम्राज्य' के नाम से सम्बोधित किया है। यही मद्र साम्राज्य अपने संस्थापक परशुओं के नाम पर पर्शु-राज्य भी कहा जाता रहा और आगे चलकर पर्शु का अपभ्रंश ही फार्स अथवा फारस होगया। वर्तमान ईरान में अब भी एक प्रान्त है जिसे फार्स ही कहा जाता है। पर्शु अथवा फार्स से ही यहाँ के निवासियों को 'पारसी' कहा जाने लगा तथा अंग्रेजों ने इस देश को परशिया कहना प्रारम्भ कर दिया।

इस देश के साथ भारत के सम्बन्ध बहुत प्राचीन हैं। महर्षि अत्रि ने यहाँ बहुत दिनों तक निवास किया था, ऐसा भी अनेक

ईरान का शिव मन्दिर
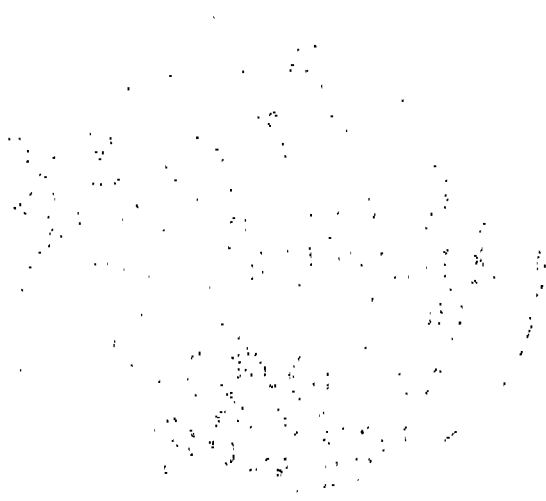
प्राचीन ईरान के सिक्के पर शिवमूर्ति

विद्वानों का मत है। उनका कहना है कि 'अत्रि पत्तन' ही, जिसे आज एट्रोपेटन कहा जाता है, महर्षि अत्रि का निवास स्थान है और ईरान की प्रसिद्ध नदी अट्रीक का नाम भी कभी अत्रि ही था। अत्रि का तपोवन आज भी 'वन' नाम से ही पुकारा जाता है।

महाराज दशरथ की सेना में वाह्लीक सैनिक थे और कौरव पाण्डवों के युद्ध में भी वे लोग सम्मिलित हुये थे। बलख वाह्लीक का ही रूपान्तर है। सम्भव है इस समय ईरानी नव-युवक भारतीय सेनाओं में भरती होने के लिये आया करते हों। पाण्डवों के मामा शल्य भी ईरान देश के ही निवासी थे।

आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व महर्षि व्यास ईरान गये थे और वहाँ बलख नगर में उन्होंने जरथुस्त से भेंट की थी इसका उल्लेख भी ईरानियों के धर्मग्रन्थ जिन्दावस्ता में स्पष्टतया मिलता है। इस ग्रन्थ में व्यास को 'पृथ्वी पर अद्वितीय तथा एक महान भारतीय विद्वान' कहकर सम्बोधित किया गया है।

किसी समय इस देश के समस्त निवासी आर्य धर्म के ही अनुयाई थे। मनुस्मृति के दसवें अध्याय (४३-४५) से प्रतीत होता है कि ये लोग कभी हिन्दू क्षत्रिय ही थे।

प्रो० मेक्समूलर के कथनानुसार 'ईरान के निर्माता पुरुरवा के पुत्र एरा (इला) के वंशज हैं।' ईरान के इतिहास में ईरान और तूरण के युद्ध का जो वर्णन है वही प्रो० मेक्समूलर के इस कथन का आधार कहा जाता है।

जो भी हो, किन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि ईरानी कभी आर्य सभ्यता और संस्कृति के ही अनुयाई थे। केवल जातीय दृष्टि से ही

नहीं किंतु धर्म और भाषा की दृष्टि से भी वे एक थे। वे लोग सूर्य, चन्द्र, वायु, जल, इन्द्र, यम, अग्नि आदि सभी वैदिक देवताओं की उपासना करते थे। उनके धार्मिक ग्रन्थों में साधारण सी उलट-फेर के साथ इन सभी देवताओं के नाम आये हैं।

ईरानियों के धर्म ग्रन्थों में वैवस्वत को विवन्वत, यम को यिम, वरुण को अहुर, मित्र को मिथ्र, आप्त्य को अथ्त्य, त्रैतन को थ्रैतान कहा गया है। जिन्दावस्ता में अथर्व वेद का भी उल्लेख आया है तथा उसमें अनेकों ऐसी पंक्तियां हैं जो साधारण सी ही हेर फेर से वैदिक ऋचायें बन जाती हैं। वेदों में वर्णित सोम रस के समान ही अवस्ता में भी 'होम रस' की चर्चा है।

ईरान के प्राचीन ग्रंथों में भारत को 'हफ्त हिन्दू' कहा गया है। फारसी का शब्द 'हिन्दू' संस्कृत के 'सिन्धु' शब्द से ही निकला है। अतः 'हफ्त हिन्दू' को 'सप्तसिंधु' का ही अपभ्रंश कहा जा सकता है।

डा० स्पूनर के मतानुसार सम्राट चन्द्र गुप्त का ईरान के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। 'मुद्रा राक्षस' में लिखा भी है कि चन्द्र गुप्त ने ईरानी सेना की सहायता से ही मगध को विजय किया था। चन्द्र गुप्त ने अपनी राजधानी में ईरान के नमूने के ही महल बनवाये थे और उन्हें वहीं के ढङ्ग की चित्रकारियों से सुसज्जित भी किया था।

तक्षशिला में अशोक का एक शिला लेख मिलता है जो ईरानी लिपि में है। इससे स्पष्ट है कि उस समय भी भारत और ईरान के आपसी सम्बन्ध अच्छे थे और ईरानी भाषा तथा लिपि से भारतीय भी उसी प्रकार परिचित थे जिस प्रकार भारतीय भाषा और लिपि से ईरानी। पाणिनी ने अपनी अष्टाध्यायी में जिस

यावनी लिपि का उल्लेख किया है वह यही ईरानी लिपि है।

अब से ढाई हजार वर्ष पूर्व ईरानी सेना में भारतीय नवयुवकों के होने का प्रमाण भी यहां के ऐतिहासिक ग्रन्थों में मिलता है। इन भारतीय सैनिकों ने ग्रीक लोगों के साथ ईरानियों के युद्ध में पर्याप्त वीरता का प्रदर्शन किया था।

इन्हीं सब प्रमाणों के आधार पर अपनी 'डिस्कवरी आफ इण्डिया' में श्री नेहरू जी ने लिखा है कि 'इस बात के अनेक प्रमाण हैं कि ईरान और हिन्दुस्तान में बहुत पुराने समय से सम्पर्क है और इन दोनों देशों के निवासियों का जितना अधिक आपसी सम्पर्क रहा है उतना शायद ही किन्हीं दूसरे देशों के लोगों में रहा हो।'

जहाँ तक ईरानी भाषा का सम्बन्ध है वह संस्कृत से ही निकली है। सर डब्ल्यू० जोन्स ने लिखा है कि— 'जिन्दावस्तां ग्रंथ के कोष में प्रत्येक दस शब्दों में से ६—७ शब्द शुद्ध संस्कृत के हैं।' ईरान और उसकी भाषा को समझने के लिये संस्कृत के ज्ञान की आवश्यकता अब ईरान के विद्वान भी अनुभव करने लगे हैं। भारत स्थित ईरानी राजदूत श्री अली असगर हिकमत ने लिखा है कि— 'ईरान का इतिहास और विशेषतया उसके प्रारम्भिक इतिहास को समझने के लिये संस्कृत भाषा का ज्ञान बहुत ही जरूरी है।' आगे आपने लिखा है 'और इसी लिये आज कल ईरान के कुछ भाषा विज्ञान-वेत्ता प्रोफेसर दाऊद की देख रेख में एक भारतीय संस्कृतज्ञ की सहायता से वेद और अवस्तां का अध्ययन कर रहे हैं।'

ईरान पर भारत और उसकी भाषा संस्कृत का जो प्रभाव पड़ा है उसका एक स्पष्ट प्रमाण वहाँ के नगरों और नदियों के नाम भी

हैं। उदाहरण के लिए ईरान के फारसी नगर का नाम भारत की काशी पर, ईरान की नदी हरयू का नाम भारत की सरयू पर और हरहवती का नाम भारत की सरस्वती पर ही रक्खे गये हैं।

और इन्हीं सब कारणों से ईरान के शाह ने अपनी भारत यात्रा के अवसर पर सत्य ही कहा था कि—'भारत सदैव से ही ईरान की जनता के लिये ज्ञान और कला का प्रतीक रहा है।'

सचमुच ही भारतीय इतिहास के प्राचीन पृष्ठ इस बात के साक्षी हैं कि एक दिन समस्त पर्शिया पर भारतीयों का ही झण्डा लहराता था और भारत का सिक्का भी ईरान की भूमि पर चलता था।

७वीं शताब्दि में ईरान में इस्लाम का प्रवेश हुवा और उसने तलवार के सहारे ईरान पर राजनैतिक विजय प्राप्त करली किन्तु ऐसा होने पर भी सांस्कृतिक क्षेत्र में इस्लाम वहाँ विजयी न हो सका। ईरान के हिन्दू देवालयों को नष्ट करके मुसलमानों ने देश को बाह्य रूप में तो इस्लामी रङ्ग में रङ्ग दिया किन्तु वहाँ की संस्कृति, वहाँ के साहित्य और वहाँ की विचार धारा को वह सोलहों आने इस्लामी न बना सके। उल्टे भारतीय संस्कृति ने ही वहाँ इस्लाम को अपने रङ्ग में रङ्गने का प्रयत्न किया। ईरान में इस्लाम पर भारतीयता का जो प्रभाव पड़ा उसी के परिणाम स्वरूप वहाँ सूफी विचार धारा का उदय हुवा जिसे हम भारतीय वेदांत का ही ईरानीकरण कह सकते हैं।

प्रो० हांग के लेखानुसार भारतीय हिन्दुओं और ईरानी पारसियों के अनेक धार्मिक सिद्धान्तों और प्रथाओं में असाधारण एकता और समानता है।

पारसी लोग अभी भी वर्ण व्यवस्था मानते हैं। वर्ण उनके यहाँ भी चार ही हैं— अथ्रवन (पुरोहित), रथेस्तर (सैनिक), वस्तियोफश्यम (कृषक) तथा हुईतस (सेवक)। ये चारों वर्ण क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ही के रूपान्तर मात्र हैं।

भारतीय हिन्दुओं के उपनयन संस्कार के समान ही पारसियों में 'नव जोत' संस्कार होता है। अन्तर केवल इतना है कि भारत में यज्ञोपवीत कंधे पर धारण किया जाता है और पारसियों में कुस्टी (मेखला), पवित्र कुरता और टोपी पहनी जाती है।

हिन्दुओं के समान ही पारसियों के धार्मिक जीवन में भी गौ का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। अवस्ता में गाय के लिये 'गौ' शब्द ही आया है। उसमें लिखा है कि 'गौरक्षा और गौ सेवा के लिये ही जरथुस्त पृथ्वी पर अवतरित हुये थे।'

पारसियों के यहाँ 'निरंगदीन' नाम से एक पवित्र उत्सव होता है। उस दिन वृषभ के मूत्र को एक पात्र में एकत्रित कर उसे मंत्रों से पवित्र किये जाने की प्रथा है।

प्राचीन ईरानी शिल्पकला के भवनों पर, जिनमें मन्दिर भी सम्मिलित हैं, बैलों के चित्र अङ्कित मिलते हैं। वहाँ के कितने ही सिक्कों पर भी बैल के चित्र प्राप्त होते हैं।

ईरान के मूल निवासी ये पारसी पुनर्जन्म में भी विश्वास रखते हैं, स्वर्ग नर्क का भी अस्तित्व मानते हैं, अग्निहोत्र करते हैं, सूर्य आदि की पूजा करते हैं तथा गौमूत्र का आचमन करते हैं।

रजस्वला होने पर पारसियों की स्त्रियाँ सात दिन तक किसी को स्पर्श नहीं करतीं तथा भोजन, शयन, आसन एकान्त में रखने

आदि नियमों का पालन करती हैं। सन्तानोत्पत्ति के पश्चात् चालीस दिन तक उनके हाथ का बनाया हुवा भोजन कोई भी पारसी नहीं करता।

उनके एक धर्म ग्रन्थ होशङ्ग में लिखा है कि-'पुराना चोला उतार कर नया चोला पहनना अनिवार्य ही है।'

एक दूसरे धर्मग्रन्थ नभासिहवद में लिखा है कि-'प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्मों के अनुसार स्वर्ग अथवा नर्क में स्थान प्राप्त करता है और फिर वहाँ से लौटने पर यदि उसने पूर्व जन्म में अच्छे कर्म किये हैं तो राजा, मंत्री या धनी बनकर उत्पन्न होता है। जो मनुष्य जैसा करता है वैसा ही उसको भरना पड़ता है।'

पारसियों की इन विचारधाराओं का भारतीय संस्कृति और भावनाओं से अद्भुत साम्य पाया जाता है।

देश का इस्लामीकरण होने पर ईरान के असंख्य निवासियों ने मुसलमान धर्म स्वीकार नहीं किया और स्वधर्म त्याग की अपेक्षा अपने देश का त्याग ही उचित समझा। ये व्यक्ति जब वहाँ से बाहर निकले तो उनका ध्यान उसी देश की ओर गया जो उनके पूर्वजों का आदि जन्म स्थान था। वह जल मार्ग से भारत के पश्चिमी तट पर आये और वहीं बस गये।

आज भी पारसी भारत में, भारत की ही प्राचीन संस्कृति की थाती को संजोय, रह रहे हैं और भारत स्थित ईरानी राजदूत के शब्दों में 'भारत और ईरान की सभ्यता के बीच एक दृढ़ शृङ्खला का कार्य कर रहे हैं।'

ईरान में इस समय भी वहाँ इस्लाम के प्रवेश के पूर्व की अपनी

प्राचीन सभ्यता और संस्कृति पर ध्यान देने का एक आन्दोलन चल रहा है। उसका धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है किन्तु वह केवल संस्कृति के आधार पर ही है। यह आन्दोलन ईरान की पुरातन संस्कृति की खोज कर रहा है और उस पर गर्व कर रहा है।

पिछले दिनों एक सांस्कृतिक मण्डल भारत में आया था। अपने ग्रन्थ 'भारत की खोज' में पं० जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है कि 'उसके नेता ने इलाहाबाद में कहा था कि ईरानी और हिन्दुस्तानी दो भाइयों की तरह हैं जो एक फारसी कथा के अनुसार एक दूसरे से बिछुड़ गये थे और दोनों के परिवार वाले भी एक दूसरे को भुला बैठे थे। दोनों के बीच जो बात समान रह गई थी वह कुछ पुराने गीतों की धुनें थीं जिन्हें दोनों अब भी अपनी बांसुरियों पर निकाला करते थे। इन धुनों के द्वारा ही फिर दोनों खानदान वालों ने एक दूसरे को पहचाना और वे फिर मिल गये। इसी तरह हम भी हिन्दुस्तान में आये हैं अपनी युगोंयुग पुरानी तानों को अपनी बांसुरियों पर गाने के लिये, जिससे कि उसे सुनकर हमारे हिन्दुस्तानी भाई हमें पहचान सकें और अपना ही समझकर वे हम, अपने ईरानी भाइयों, से मिलें।'

पं० नेहरू ने लिखा है कि 'इसमें कोई संशय नहीं कि निकट भविष्य में ही हिन्दुस्तान और ईरान एक दूसरे के बहुत निकट आ जायेंगे।' ईश्वर करे उनकी यह शुभ कामना शीघ्र ही पूर्ण हो।

ईराक

ईराक का प्राचीन नाम है 'सुमेरु'।

यूफ्रेटीज और टाइग्रिस नदियों की घाटियों में निप्पुर, इसिन और किश आदि अनेक नगरों की खुदाइयाँ हुई हैं। इनमें से मिट्टी की बनी बहुत सी ईंटें प्राप्त हुई हैं। इन ईंटों पर इस देश के प्राचीन नरेशों की वंशावलियाँ दी हुई हैं।

यहाँ के प्रथम राजवंश के नाम जो उन ईंटों पर प्राप्त होते हैं उकस, वक्कुस, पुनपुन और अनेनु हैं। ये चारों ही नाम सूर्य-वंश के इक्ष्वाकु, विकुक्षि, पुरुञ्जय और अनेना के परिवर्तित रूप ही हैं।

भारत में हमारे यहाँ प्रथम शासक मनु माने जाते हैं और सुमेरु के उकस (इक्ष्वाकु)। इससे स्पष्ट है कि सूर्यवंश के नरेशों में, मनु के पश्चात्, इक्ष्वाकु ने ही सब से प्रथम सुमेरु में प्रवेश किया था।

इक्ष्वाकु के शासनकाल में ही भारत से सुवर्ण जाति के लोग मेसो-पोटामिया गये और वे ही वहाँ सुमेर नाम से सम्बोधित किये गये।

सुवर्ण जाति का उल्लेख महाभारत में भी आया है। वहाँ

सुवर्ण जाति और सुवर्ण प्रदेश से इसी सुमेर जाति और सुमेर देश का ही वर्णन है।

सुमेर कृषि प्रधान जाति थी। 'बोगजकोई' नामक स्थान में वक्कुस (त्रिकुक्षि) की एक विशाल मूर्ति है जो एक चट्टान पर खुदी हुई है। उसमें वक्कुस एक हाथ में गेहूँ की बाल और दूसरे में हल लिये हुवे हैं।

सुमेरु के निवासी सूर्य के उपासक थे क्योंकि उनके नरेश इक्ष्वाकु सूर्यवंशी थे। खुदाइयों में प्राचीन सुमेरुओं के जो सिक्के प्राप्त हुवे हैं उनमें भी प्रायः सभी पर सूर्य का ही चित्र अङ्कित है।

प्राचीन सुमेरु में देवालय पर्वतों की चोटियों पर ही बनाये जाते थे। धार्मिक कथाओं के अनुसार वहाँ की पहाड़ियों पर एक देवता का निवास था। उनका नाम 'बेल' था, उनकी पत्नि पर्वत कन्या थी और उनके साथ एक वृषभ भी रहा करता था। कहना नहीं होगा कि यह देवता वृषभ वाहन शङ्कर ही थे और उनकी पत्नि गिरिराज तनया पार्वती ही थीं।

खुदाइयों में वहाँ शङ्कर, पार्वती और स्कंध की अनेकों मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं।

ईराक की अनेकों प्रथायें और वहाँ के निवासियों के अनेकों विश्वास भारतीय आर्यों के जैसे ही थे। वे मृतकों का दाह संस्कार करते थे, आत्मा की अमरता में विश्वास करते थे तथा कर्म फल और पुनर्जन्म को भी मानते थे।

बगदाद ईराक़ की राजधानी है। इसका प्राचीन नाम 'भगवान' था। जैसा कि असीरिया में प्राप्त एक शिला लेख से प्रतीत होता

है भगधान से इसका नाम बगदादु हुवा और फिर बगदादु से यह बगदाद बन गया। यह नगर भी एक समय संसार के विभिन्न धर्मों और विद्याओं का प्रधान केन्द्र रहा है।

पादरी हेरास ने अपनी पुस्तक में अनेकों प्रमाण देकर यह सिद्ध किया है कि— 'पुरातन काल में ईराक़ भारतीय धर्म और संस्कृति का ही अनुयाई था।'

मोहम्मद साहब की मृत्यु के पश्चात् अबूबकर खलीफा नियुक्त हुवे और उन्होंने ही एक बड़ी सेना के साथ ईराक़ पर आक्रमण कर वहाँ के देवालयों को नष्ट कर डाला और ईराक़ के निवासियों को तलवार के बल पर इस्लाम का अनुयाई बना लिया। जो व्यक्ति मुसलमान नहीं बने उनका वध कर दिया गया।

इस प्रकार वहाँ का आर्य साम्राज्य इस्लामी राज्य में परिवर्तित हो गया।

टर्की

टर्की का प्राचीन नाम है— 'कपादेश' ।

मेक्समूलर का कथन है कि 'तुर्वा की संतान तूरानी थे और उन्हीं का निवास स्थान होने के कारण इस देश का नाम टर्की हुआ ।' कुछ विद्वानों का मत है कि 'पांडवों के पूर्वज ययाति के द्वितीय पुत्र तुर्वसु का ही दूसरा नाम तुरु था और उन्होंने ही इस देश का नामकरण अपने नाम पर तुरुष्कस्थान अथवा तुरुकिस्तान किया था और वही आगे चलकर टर्की के नाम में परिवर्तित हो गया ।'

जो भी हो, किंतु यह निर्विवाद सत्य है कि टर्की में किसी समय आर्यों का ही एक महान् साम्राज्य स्थापित था । पुरातन बाईबिल के लेखानुसार उन आर्यों का नाम 'हिट्टिम' था । यूनानी उन्हें खेता के नाम से पुकारते थे । मिस्र के प्राचीन शिला लेखों में उनका नाम 'खत' अथवा 'खेत' आया है और उनके नरेशों को खतेसर कहा गया है । 'खेत' क्षेत्र ही का अपभ्रंश है और 'खतेसर' क्षत्रेश्वर का, जिसका अर्थ होता है क्षत्रियों के राजा । अपने आनबान के हठी इन क्षत्रियों को बेबीलोनिया और असीरिया से प्राप्त शिला-लेखों में 'हट्टी' के नाम से सम्बोधित किया गया है । 'एनसाइक्लो-

पीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स' के छटे भाग में स्पष्टतया उल्लेख है कि 'हट्टी' आर्यों की ही एक जाति थी जिसने ईसा पूर्व दो हजार वर्ष से एक हजार वर्ष पूर्व तक उस प्रदेश में राज्य किया था जिसे आज टर्की और अरब के नामों से सम्बोधित किया जाता है।

श्री नन्दलाल दे के अनुसार टर्की के निवासी नागवंशी क्षत्रिय थे। उनका कहना है कि टर्की की उपजातियाँ 'सेस' और 'बासक' शेष और वासुकी नागों के नाम पर ही थीं। ये क्षत्रिय विशुद्ध आर्य धर्म और संस्कृति के अनुयाई थे तथा वेदों को ही अपना धर्मग्रन्थ मानते थे। ये लोग वरुण, इन्द्र, आदित्य आदि देवों की ही उपासना करते थे।

टर्की की वर्तमान राजधानी अंकोरा है। इससे पूर्व की दिशा में लगभग एक सौ मील की दूरी पर जहाँ टर्की का वर्तमान नगर बागजकुई है टर्की की पुरानी राजधानी स्थित थी। उसका नाम था पितर्या। जर्मन विद्वान विंकलर ने १६०७ की खुदाई में इसे खोज निकाला था। उसी समय आर्यों के द्वारा शासित पुरातन टर्की का महत्व और वैभव संसार के सामने आ सका। खुदाइयों से स्पष्ट हुवा कि पितर्या एक महान नगरी थी, उसके चारों ओर चौदह फीट चौड़ी और ऊँची दीवार थी। दीवार पर सौ सौ फीट पर ऊँची ऊँची मीनारें थीं। नगर के चारों ओर गहरी खाई थी। नगर में अनेक छोटे छोटे दुर्ग थे और उन्हीं में से एक दुर्ग में राजमहल था। यह पुरातन पितर्या नगरी ही आर्य हट्टी नरेशों की गौरवशालिनी राजधानी थी। राजधानी से दो प्रधान राजमार्ग निकलते थे जिनमें से एक दक्षिण की ओर सीरिया

को जाता था और दूसरा पश्चिम-दक्षिण की ओर ईजियन सागर तक पहुँचता था। इन दोनों ही राजमार्गों पर महान हट्टियों के बड़े बड़े स्मृति चिह्न भी निर्मित थे।

इस खुदाई में लगभग ढाई हजार शिला लेख प्राप्त हुवे हैं। उनसे प्रतीत होता है कि ईसा से लगभग १४०० वर्ष पूर्व वहाँ हट्टूशील नाम के एक प्रतापी क्षत्रिय नरेश शासन करते थे। एक दूसरे हट्टी नरेश सुविलल्युम का नाम भी उन शिला लेखों में आया है। इन्होंने हट्टी जाति को एक सूत्र में बांध कर उसे बलशाली बनाने के लिये बहुत कुछ प्रयत्न किये थे। इसी प्रयत्न में ही उन्हें अनेक युद्ध भी करने पड़े थे। एक प्राप्त शिला लेख में युद्ध के पश्चात् हुई दो नरेशों की एक संधि का उल्लेख है। शिला लेख में मितानी के नरेश दुशरथ ने यह संधि-पत्र लिखते हुवे अपने देवों की शपथ इस प्रकार ली है—

'मित्तर (मित्र), अरुवना (वरुण), इनदार (इन्द्र) और नसअतिया (नासित्य) देवता साक्षी है कि................।'

इस संधि-पत्र से ही स्पष्ट है कि उस समय टर्की और उसके आस पास के सभी नरेश वैदिक देवताओं के ही उपासक थे।

यही नहीं वागजकुई से प्राप्त अन्य शिला लेखों से भी प्राचीन टर्की के तत्कालीन आर्य साम्राज्य पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। सुविलल्युम के पश्चात् अरनदास, मुरशील, मतालू आदि नरेशों के कार्य कलापों का जो विषद वर्णन प्राप्त शिला-लेखों से जाना जा सकता है उससे यह स्पष्ट है कि उस समय हट्टियों का गौरव-सूर्य मध्याह्न पर था।

बागजकुई में प्राप्त शिला-लेखों के आधार पर ही प्रोफेसर रैपसन ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'एंशेंट इण्डिया' में लिखा है कि 'भारतीय इतिहास की दृष्टि से भी ये शिला-लेख अत्यन्त उपयोगी हैं। इनसे ज्ञात होता है कि ईसा के जन्म से चौदह-पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व यहाँ के शासक न केवल आर्य नाम ही धारण करते थे अपितु वे ऋग्वेद के देवताओं की पूजा भी करते थे।'

एक हट्टी नरेश के सिक्के पर सिंहारूढ़ भवानी तथा वृषभारूढ़ शङ्कर के चित्र भी मिले हैं। वअजअलिक में भी शिव, कार्तिकेय तथा गणेश का एक अत्यन्त प्राचीन चित्र मिला है। हट्टी लोग वर्ण व्यवस्था को भी मानते थे। स्वास्तिक के चिह्न को भी हट्टी समाज में विशेष सम्मान प्राप्त था। अङ्क भी वहाँ भारतीय ही प्रयोग में आते थे जैसे एक, त्रय, पज, सत, नव आदि।

श्री जे. टाका क्योमो ने लिखा है कि 'टर्की में भारतीय प्रचारक बराबर आते जाते रहते थे तथा वहाँ के निवासियों को धर्म का उपदेश देते रहते थे।'

चीनी यात्री फाह्यान ने भी अपनी यात्रा के विवरण में लिखा है कि टर्की में उस समय भारतीय रीति-रिवाजों का प्रचलन था।

इन सभी प्रमाणों से यह सिद्ध है कि कम से कम ईसा की चौथी शताब्दि तक टर्की में पूर्णतः वैदिक धर्म की मान्यता थी और यहां के निवासी प्राचीन आर्यों के पद-चिह्नों का ही अनुसरण करते थे, किंतु अरब में उत्पन्न होकर तलवार की धार पर फैलने वाला इस्लाम अन्य अनेक देशों के समान ही इस देश को भी निगल गया।

अरब

अरब का प्राचीन नाम है 'अर्व'।

वैदिक भाषा में घोड़े का नाम 'अर्वन' है और जिस स्थान पर घोड़े रहते हैं उसे 'अर्व' कहा जाता है। अरब के घोड़े आज भी संसार में सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं अतः अपने इसी गुण के कारण इस देश को 'अर्व' नाम प्राप्त हुवा था।

अरब को किसी समय 'शीनार' भी कहा जाता था। शीनार 'श्रीनार' का अपभ्रंश है, जिसका उल्लेख भारतीय पुराणों में भी कई स्थलों पर आया है।

ईसा की छटी शताब्दि तक अर्थात् अरब में इस्लाम का उदय होने तक यह सम्पूर्ण देश आर्य धर्म और संस्कृति का ही अनुयाई था। यहाँ के निवासी शैव धर्मावलम्बी थे। लात, मनात, अल्लात आदि अनेक नामों से लिङ्ग रूप में ही यहाँ भगवान शंकर की उपासना होती थी। शंकर और उमा के अतिरिक्त सूर्य, अग्नि, नृसिंह, गरुड़, अश्वनीकुमार तथा मंगल, शुक्र, गुरु आदि नवग्रह की पूजा भी यहाँ व्यापक रूप से प्रचलित थी।

सूर्य को यहाँ के निवासी आद (*Ad*) अथवा अदम (*Edom*) के नाम से पुकारते थे। सूर्य के ये नाम आदित्य के ही अपभ्रंश हैं। अरब का प्रमुख नगर अदन 'आद' के नाम पर ही बसाया गया था और उसमें सूर्य का एक विशाल मन्दिर भी था जो सोने चाँदी की ईंटों से बना हुवा था और जिसकी छत मोतियों और हीरों से जड़ी हुई थी। प्रत्येक अरब आज भी किसी भी प्राचीन वस्तु को 'आद के समान पुरानी' ही कहता है।

एक मन्दिर में राजा बलि की भी एक मूर्ति थी जिसका एक हाथ स्वर्ण का बना हुवा था। यह बलि के दानी होने का प्रतीक था।

अनेक विद्वानों का मत है कि 'महाराज प्रियव्रत के प्रथम पुत्र अग्नीध्र समग्र जम्बूद्वीप (एशिया) के सम्राट थे। उनके सात पुत्रों में से कुरु अरब देश के शासक थे और आज अरब में रहने वाली प्रसिद्ध जाति 'कुरेश' इन्हीं महाराज कुरु की संतान है।'

कर्नल टाड ने भी लिखा है कि 'महाभारत के युद्ध के पश्चात् श्रीकृष्ण के पुत्र और पौत्रों में से अनेक भारत का परित्याग कर यहीं अरब में आकर बस गये थे।'

अरब की एक दूसरी प्रधान जाति शेख है और इस देश में शेखों को वही सम्मान प्राप्त है जो हमारे भारत में ब्राह्मणों को है। मनुस्मृति में 'शेख' ब्राह्मणों के योग से ही उत्पन्न एक वर्ण-संकर जाति को कहा गया है। इससे भी स्पष्ट है कि शेख भी मुसलमान होने से पूर्व ब्राह्मण ही रहे होंगे।

अरब की प्राचीन भाषा अरबी है। हमारे प्राचीन व्याकरण

ग्रन्थों में इसे यावनी भाषा कहा गया है। इस भाषा से हमारे प्राचीन भारतीय केवल परिचित ही नहीं थे किन्तु वे इसके अच्छे ज्ञाता भी थे। महाभारत में उल्लेख है कि जब कौरवों ने पाण्डवों को लाक्षागृह में बन्द कर उन्हें मार डालना चाहा था तब विदुर ने युधिष्ठिर से इसी भाषा में उस भवन का रहस्य समझा दिया था।

इसी अरब देश में छठी शताब्दि में इस्लाम के प्रवर्तक हजरत मोहम्मद का कुरेश जाति में जन्म हुवा। अरब के मूल निवासियों और विशेषकर पुरोहित वर्ग से उनके विचारों की साम्यता न हुई और उनमें आपस में तनाव रहने लगा। कुछ समय पश्चात् मोहम्मद साहब ने अपने कुछ सहयोगियों की सहायता से इस्लाम की नीव डाली। उन्होंने मूर्ति पूजा का खण्डन किया, अतः उनके अनुयाइयों और सहयोगियों ने सम्पूर्ण देश में प्राचीनकाल से पूजित देव मन्दिरों और प्रतिमाओं को खण्डित कर डाला। मक्के में भी उन दिनों भगवान शंकर का एक विशाल देवालय था। इस मन्दिर में विभिन्न देवी देवताओं की तीन सौ साठ देव प्रतिमायें स्थापित थीं। अनेक राजाओं ने मन्दिर के चारों ओर की लगभग ५० कोस की भूमि मन्दिर के साथ लगाई हुई थी। मोहम्मद साहब के अनुयाइयों ने इस मन्दिर को भी नष्ट कर डाला और उसी स्थान पर एक विशाल मस्जिद का निर्माण किया जो आज 'काबा शरीफ' कहलाता है। इस देवालय की अन्य सभी प्रतिमायें तो खण्डित कर डाली गईं किन्तु प्रधान मूर्ति शिवलिङ्ग को नष्ट नहीं किया गया। वह मूर्ति आज भी मक्का में एक सोने की जलहरी पर स्थित है। हज को जाने वाले सभी मुसलमान इस मूर्ति की

सात परिक्रमा कर उसका चरण चुम्बन करते हैं। मक्का के जमजम कुवे में भी एक शिव लिङ्ग है जिसकी पूजा अभी तक भी वहाँ खजूर के पत्तों से ही की जाती है।

अरब में एक प्रदेश है जिस का नाम 'उमा' है। यह भी वहाँ के पुरातन निवासियों के शिवोपासक होने का ही प्रमाण है।

मोहम्मद साहब ने अरब में केवल इस्लाम की नींव ही डाली हो ऐसी बात नहीं किन्तु उन्होंने अपने जीवन में ही सारे देश का इस्लामीकरण भी कर डाला था। इसके लिये उन्होंने अनेक स्थानों पर बल का भी प्रयोग किया था। जिन व्यक्तियों ने मुसलमान होना स्वीकार नहीं किया उन्हें मृत्यु के घाट उतार दिया गया था।

इतना सब कुछ हुवा किन्तु फिर भी अरब और भारत के सांस्कृतिक तथा व्यापारिक सम्बन्ध नष्ट नहीं हुवे। अरबी भारत में और भारतीय अरब में बराबर आते जाते रहे। अरबी अपने देश में आये भारतीयों का सदैव सम्मान करते थे तथा उन्हें प्रायः अपने यहाँ भोजन के लिये निमंत्रित भी किया करते थे। एक प्राचीन इतिहास में अबूजेद सेराफी ने लिखा है— 'जो हिन्दू व्योपार के लिये सेराफ़ में आते हैं उन्हें यहाँ के अरब व्योपारी भोजन के लिये निमंत्रित करते हैं। हिन्दू व्योपारी इन निमंत्रणों को स्वीकार कर उनके यहाँ आते हैं और अरबी लोग उन्हें बड़े प्रेम के साथ भोजन कराते हैं। किन्तु इन भोजों में यह आवश्यक होता है कि निमंत्रित हिन्दुओं में से प्रत्येक के सामने अलग अलग थाल में भोजन परोसा जाये क्योंकि हिन्दू लोग एक थाल में मिलकर

सम्मिलित भोजन नहीं करते।'

प्राचीन अरब निवासी अत्यंत जिज्ञासु होते थे और इसी जिज्ञासा से प्रेरित होकर उन्होंने बहुत बड़ी संख्या में भारतीय साहित्य का अपने यहाँ की अरबी भाषा में अनुवाद किया था। नेहरू जी ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'भारत की कहानी' में लिखा है कि 'आठवीं नवीं शताब्दि तक अरब वाले भारत से बहुत अधिक सम्पर्क में थे और उन्होंने भारतीयों से गणित, ज्योतिष और औषधि विद्या के विषय में बहुत कुछ सीखा भी था।' अरब में गिनती के अङ्क भी भारतीय ही थे। वे उन्हें 'हिंदसा' कहते थे जिसका अर्थ ही होता है 'हिन्द से आया हुवा'।

भारतीय ज्योतिष और गणित की पुस्तकों का अनुवाद अरब में 'सिन्द हिन्द' के नाम से, सुश्रुत का अनुवाद 'सुश्रद' के नाम से, चरक का अनुवाद 'सिरक' के नाम से, पञ्चतंत्र का अनुवाद 'कलिला दमन' के नाम से, चाणक्य नीति का अनुवाद 'शानक' के नाम से और हितोपदेश का अनुवाद 'बिदपा' के नाम से वहाँ अरबी भाषा में अभी भी मिलता है। अरब की प्रसिद्ध पुस्तक सिन्दबाद जहाजी की रचना भी भारतीय कथाओं के आधार पर ही हुई है।

अभी पिछले दिनों अरब के शाह भारत आये थे और भारत के प्रधान मंत्री श्री नेहरू जी भी अरब गये थे। इस आवागमन से अरब और भारत के प्राचीन सम्बन्ध फिर कुछ नये हुवे हैं और आशा है कि ये सम्बन्ध अरब का ध्यान पुनः अपनी प्राचीन आर्य-संस्कृति की ओर दिलाने में समर्थ होंगे।

श्रीलङ्का

श्रीलङ्का जिसे कुछ समय पहिले तक हम सीलोन के नाम से पुकारते रहे हैं प्राचीन काल में लङ्का के नाम से ही प्रसिद्ध थी किन्तु सिलोन अथवा श्रीलङ्का पूर्वकालीन 'लङ्का' का एक टुकड़ा मात्र ही है। इसके आगे का भूमि खण्ड सागर में विलीन हो चुका है। पूर्वकाल में आज की श्रीलङ्का से लेकर आगे का पूरा द्वीप समूह सम्मिलित रूप से ही लङ्का कहलाता था।

भगवान राम की लङ्का विजय के समय इसका यही महान स्वरूप था। उस समय लङ्का स्वर्णपुरी कहलाती थी और अभी तक भी इससे आगे हिन्द-एशिया के जो टापू हैं उनमें स्वर्ण बहुत बड़ी मात्रा में प्राप्त होता रहा है। स्वर्ण के ही लोभ से असुरों ने इसे अपनी राजधानी बनाया था।

४१० वर्ष ईस्वी पूर्व बुद्धदास वहाँ के नरेश थे। वह एक योग्य शासक के साथ ही साथ कुशल चिकित्सक भी थे।

३७७ वर्ष ईस्वी पूर्व वहां पाण्डुकम्प का आधिपत्य था। अनुराधपुर लङ्का की राजधानी थी।

बङ्गाल के एक राजकुमार विजयसिंह ने लङ्का को विजित कर इसे सिंहल नाम दिया था और सिंहल से ही बिगड़ कर इसका नाम सिलोन हुवा था।

यद्यपि वर्त्तमान काल में लङ्का एक बौद्ध देश है किन्तु फिर भी वहाँ की आबादी का लगभग एक चौथाई भाग हिन्दू है। अधिकांश हिन्दू लङ्का के उत्तरी भाग में, जो भारत के अधिक निकट है, रहते हैं। हिन्दू प्रायः सभी शैव मतानुयाई हैं। शिव के साथ ही वहाँ गणेश तथा कार्तिकेय की भी पूजा होती है।

रामायण की कथा वहाँ अभी भी लोकप्रिय है। राम कथा का वर्णन वहाँ 'रामायण पद्य चरित्र' नामक ग्रन्थ में मिलता है।

श्रीलङ्का के सामाजिक जीवन पर उत्तरी भारत की संस्कृति का स्पष्ट प्रभाव है। शिष्टाचार और दैनिक जीवन में भी भारत और श्रीलङ्का के बीच बहुत ही कम अन्तर है।

लङ्का में विवाह माता पिता की ही इच्छा से होता है। विवाहों में जाति-पांति का भी विचार रक्खा जाता है। पत्नियाँ पति सेवी और सुशील होती हैं। विवाह के पूर्व बालिका के कौमार्य रक्षण का विशेष महत्व समझा जाता है।

लङ्का में बौद्ध, ईसाई तथा हिन्दू रहते हैं किन्तु वहाँ के रहन-सहन, खान-पान और वेष भूषा पर हिन्दू संस्कृति का प्रभाव आज भी स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। जो लोग हिन्दू धर्म को छोड़ कर ईसाई हो भी गये हैं उनके नाम अभी भी भारतीयां जैसे ही हैं जैसे सेनानायक, चन्द्र नायक आदि।

लङ्का में लगभग दो हजार हिन्दू मन्दिर हैं।

माणिक्य गङ्गा के तट पर स्थित कटारगामा का कार्तिकेय मन्दिर सबसे प्राचीन और प्रतिष्ठित माना जाता है। यह मन्दिर एक घोर जङ्गल के मध्य में स्थित है किन्तु जौलाई—अगस्त में होने वाले वार्षिक समारोह में द्वीप भर की धार्मिक जनता इस मन्दिर में दर्शनों के लिये आती है। इन दिनों हिन्दू ही नहीं किन्तु बौद्ध और मुसलमान भी बहुत बड़ी संख्या में वहाँ एकत्रित होते हैं। इस मन्दिर को लङ्का में पौराणिक महत्व प्राप्त है।

स्कंध नेपाल के राष्ट्रीय देवता माने जाते हैं। बौद्ध-धर्म स्वीकार करने से पूर्व प्रायः प्रत्येक लङ्का निवासी स्कंध का ही उपासक था। आज भी हिन्दू मन्दिरों के अतिरिक्त प्रायः सभी (लगभग ६०००) बौद्ध मन्दिरों में भी स्कंध की मूर्ति के दर्शन होते हैं।

तृतीय शताब्दि में अशोक पुत्र महेन्द्र द्वारा आरोपित बो वृक्ष के नीचे भी कार्तिकेय की ही मूर्ति प्रतिष्ठित है तथा उन्हीं की पूजा की जाती है। कार्तिकेय के अतिरिक्त हिन्दू और बौद्ध सभी विष्णु की भी उपासना करते हैं।

कोलम्बो, दम्बुला, काण्डि आदि अनेक नगरों में बौद्धों द्वारा स्थापित विष्णु मन्दिर हैं जिनमें आज भी बौद्ध तथा हिन्दू समान रूप से पूजा करते हैं। इन सभी मन्दिरों में राम, लक्ष्मण, विभीषण, कार्तिकेय, गणेश आदि के अनेक सुन्दर चित्र अङ्कित हैं।

सागर धरातल से ७५०० फुट ऊँचे पर्वत शिखर आदम पर एक पद चिह्न स्थापित है जिसे बौद्ध बुद्ध के तथा हिन्दू शिव के पदचिह्न मान कर पूजते हैं।

स्वामी शृङ्ग पर भी एक अत्यन्त प्राचीन शिव मन्दिर है जिसे

लगभग ४५०० वर्ष पूर्व का निर्मित बताया जाता है। इस मन्दिर में एक हजार स्तम्भ थे किन्तु पुर्तगालियों ने इस मन्दिर को ध्वस्त कर डाला था। उन्होंने न केवल मन्दिर की मूर्तियों को ही खण्डित किया किन्तु मन्दिर के अनेक स्तम्भ भी अपने भवनों में लगा लिये तथा अनेकों को सागर में फेंक दिया।

चिला का शिव मन्दिर भी विश्व के प्राचीन मन्दिरों में से एक है। कहते हैं कि रावण को विजय कर अयोध्या लौटने से पूर्व भगवान् राम ने इस की स्थापना की थी। इस मन्दिर में मुख्य रूप में शिव तथा पार्वती के दर्शन होते हैं, किन्तु इनके अतिरिक्त उसमें अन्य अनेक हिन्दू देवी-देवताओं की भी मूर्त्तियाँ हैं।

दोण्ड्रा में एक प्रमुख विष्णु मन्दिर था जो अबसे १५०० वर्ष पहले निर्मित हुवा था। इसमें कभी स्वर्ण निर्मित विष्णु मूर्ति की पूजा होती थी। इस मन्दिर को भी पुर्तगालियों ने नष्ट कर दिया था। अभी भी उसके भग्नावशेष वहाँ मिलते हैं।

श्रीलङ्का में नागों की भी उपासना होती है। घरों में द्वारों पर प्राय: नागों की मूर्तियाँ बनाई जाती हैं।

श्रीलङ्का के अनेक नरेशों ने भारतीय नरेशों की कन्याओं से विवाह किया था और उन्होंने उनके लिए भी समय समय पर अनेक मन्दिरों का निर्माण कराया था। ये सभी मन्दिर भी अभी विद्यमान हैं।

हिन्दू मन्दिरों में होने वाले उत्सवों में बौद्ध भी सम्मिलित होते हैं तथा हिन्दू विधि विधान से पूजा आदि करते हैं। पूजा में नारियल का विशेष प्रयोग होता है।

लङ्का निवासियों की गङ्गा के प्रति भी असीम श्रद्धा है और इसी लिये वहाँ की छः प्रमुख नदियों के नाम गङ्गा पर ही हैं यथा कलू गङ्गा, केलनी गङ्गा, महावेली गङ्गा आदि। माणिक्य गङ्गा का जल पवित्र ही नहीं किन्तु आरोग्यकारक भी माना जाता है। लङ्का निवासियों का विश्वास है कि इस जल का पान करने से अनेक रोग कीटाणुओं का विनाश हो जाता है।

चिकित्सा में आयुर्वेद प्रणाली का प्रचार है तथा कोलम्बो में आयुर्वेद का एक महान् कालिज भी है। वहां आयुर्वेद को सरकारी संरक्षण प्राप्त है।

इतना ही नहीं लङ्का के साहित्य, कला, संगीत तथा नृत्यों पर भी भारतीय प्रभाव है। अनेक नृत्यों को वहाँ के निवासी देवोपासना का ही अङ्ग समझते हैं। १२वीं शताब्दि में हुए वहां के एक नरेश पराक्रम बाहु ने अपनी राजधानी के एक द्वार का नाम 'गांधर्व द्वार' रखकर भारतीय संगीत के प्रति अपनी निष्ठा प्रकट की थी।

लङ्का की भाषा सिंहली है। यह भी संस्कृत से निकली हुई ही एक आर्य भाषा है। प्रायः सभी बौद्ध मन्दिरों में पाली के साथ ही साथ संस्कृत शिक्षा की भी व्यवस्था है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रीलङ्का का प्रत्येक क्षेत्र आज भी आर्य धर्म और संस्कृति के प्रभाव से परिपूर्ण है।

नेहरू जी के कथनानुसार— 'लङ्का के निवासियों का अपना धर्म ही नहीं किन्तु उनकी जाति और भाषा भी भारत से ही मिली हुई है।'